काव्यशास्त्रीय निबन्ध

[परम्परा तथा सिद्धान्त-पक्ष]

डॉ० सत्यदेव चौधरी

वासुदेव प्रकाशन
दिल्ली-९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

202

काव्यशास्त्रीय निबन्ध

[परम्परा तथा सिद्धान्त-पक्ष]

डॉ० सत्यदेव चौधरी

शास्त्री, एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी), पीएच.डी.

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, इन्स्टीटयूट आफ़ पोस्ट-ग्रेजूएट स्टडीज़

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वासुदेव प्रकाशन दिल्ली–९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकाशक :
वासुदेव प्रकाशन
माडल टाउन, दिल्ली-९

●

प्रथम संस्करण : १९६३
प्रतियों की संख्या : ११००
पृष्ठसंख्या : २४०

●

त्रिभुवन विश्वविद्यालय पुस्तकालय
काठमाडौं
नेपाल
4319

सर्वाधिकार :
प्रकाशकाधीन सुरक्षित

●

मूल्य : ७ रु०

●

मुद्रक :
उद्योगशाला, प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली—९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

डॉ० नगेन्द्र

को

जिनकी काव्यशास्त्र-विषयक अनेक सुविचारित व्याख्याओं एवं मान्यताओं द्वारा हिन्दी-साहित्य के अध्येता को अभिनव मार्ग मिला।

—सत्यदेव चौधरी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

• नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः ।

—राजशेखर

• समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ।।

—कुन्तक

• शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः ।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ।।

—भट्टनायक

• सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरं च विदुषां निपुणैकसेव्यम् ।
• तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः ।।

—राजशेखर

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अपनी बात

'भारतीय काव्यांग' के उपरान्त भारतीय काव्यशास्त्र से सम्बद्ध यह मेरा दूसरा निबन्ध-संग्रह है। इस संग्रह में विषय-सामग्री का चयन एवं प्रतिपादन कैसा बन पड़ा है इसकी जानकारी मैं विषय के मर्मज्ञ विद्वानों से प्राप्त करना चाहूंगा। मुझे तो केवल इतना कहना है कि इस ग्रन्थ में मैंने विषय के प्रति यथासम्भव न्याय करने का प्रयास किया है।

मैं अपने सम्मान्य मित्र श्री० पं० कृष्णशंकर शुक्ल तथा स्नेही बन्धु डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी का अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिन्होंने विचार-विनिमय द्वारा समय-समय पर मुझे अनेक सुझाव दिये।

—सत्यदेव चौधरी

एफ़ ११/१२ माडल टाउन
दिल्ली–९
२१ मई, १९६३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लेखक की रचनाएं

- हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य
  [हरजीमल डालमिया पुरस्कार-समिति नयी दिल्ली तथा भाषाविभाग पंजाब पटियाला द्वारा पुरस्कृत]
  प्रकाशक : साहित्यभवन, इलाहाबाद
- भारतीय काव्यांग
  [काव्यशास्त्रीय दस अंगों का विवेचनात्मक अनुशीलन]
  प्रकाशक : साहित्यभवन, इलाहाबाद
- हिन्दी वाङ्मय का विकास
  प्रकाशक : मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दरयागंज, दिल्ली
- हमारी भाषा-परम्परा
  प्रकाशक : श्री भारतभारती लिमिटेड, दरयागंज, दिल्ली
- काव्यशास्त्रीय निबन्ध (परम्परा तथा सिद्धान्त-पक्ष)
  ,, (सिद्धान्त-पक्ष)
  प्रकाशक : वासुदेव प्रकाशन, माडलटाउन दिल्ली
- हिन्दी के प्रतिनिधि कवि
  प्रकाशक : एस. चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली

यन्त्रस्थ—

- रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार [हिन्दी व्याख्या-सहित]
- Essays on Indian Poetics Vol. I

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विषय-सूची

काव्यशास्त्रीय परम्परा

१. संस्कृत के प्रख्यात काव्यशास्त्री ११
२. संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलोकन २६
३. हिन्दी-रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ३४
४. आधुनिक युग में काव्यशास्त्र की प्रगति ५४
५. हिन्दी में काव्यशास्त्रीय शोध : एक सर्वेक्षण ६३

सिद्धान्त पक्ष

६. वाचक शब्द और उसके प्रकार ७१
७. रसाभिव्यक्ति के साधन ८०
८. रस का स्वरूप ९३
९. साधारणीकरण की व्याख्यागाथा ९८
१०. श्रृंगार का रसराजत्व ११७
११. रस की सुखदुःखात्मकता : करुण आदि रसों का आस्वाद १२८
१२. रौद्र और वीर रस का अन्तर १३७
१३. अद्भुत रस की स्थिति : अद्भुत तत्त्व की महत्ता १४४
१४. शान्त रस १४८
१५. रसस्योक्तिः स्वशब्देन : एक रसदोष ... १५७
१६. काव्य की आत्मा १६१
१७. क्या केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे ? १९३
१८. श्लेष अलंकार २०१
१९. हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार २१३
२०. अभिनय, अभिनेता तथा प्रेक्षक २२३
२१. एकांकी ... २२७
२२. मौलिकता और चौरकवि २३७

परिशिष्ट

१. रीतिकालीन अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ
२. प्रमुख-सहायकग्रन्थ-सूची

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मर्मज्ञैः काव्यतत्त्वस्य कृतमत्र विमर्शनम् ।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम् ।।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

काव्यशास्त्रीय परम्परा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

त्रिभुवन विश्वविद्यालय
काठमाडौं
नेपाल
पुस्तकालय

: १ :

संस्कृत के प्रख्यात काव्यशास्त्री

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भरत मुनि को काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है। उनका समय ३य-२य शती ई० पू० और २य-३य शती ईस्वी के बीच माना गया है। इस परम्परा के अन्तिम उद्भावक आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती) हैं। इस प्रकार लगभग डेढ़-दो सहस्र वर्षों का यह शास्त्रीय साहित्य अपनी व्यापक विषय-सामग्री, अपूर्व तर्क-सम्मत विवेचन-पद्धति और अधिकांशतः प्रौढ़ एवं गम्भीर शैली के कारण, तथा विशेषतः नूतन मान्यताओं को प्रस्तुत करने के बल पर भारतीय वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जहाँ तक इन आचार्यों में से भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, महिमभट्ट, जगन्नाथ आदि जैसे उद्भावक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत मान्यताओं एवं धारणाओं का प्रश्न है वे सम्भवतः विद्वद्गोष्ठियों में भी प्रचलित रही होंगी। किन्तु ग्रन्थाकार रूप में इन्हें प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं आचार्यों को ही है। सम्भावना यह भी है कि कई ग्रन्थ उपलब्ध न भी हों, किन्तु उनकी अनुपलब्धि-पर्यन्त इन्हीं आचार्यों को यह श्रेय मिलता रहेगा।

कतिपय प्रख्यात एवं उद्भावक आचार्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

१. भरत

भरत मुनि की ख्याति नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में है, पर उनके जीवन और व्यक्तित्व के विषय में इतिहास अभी तक मौन है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत यह भी है कि भरत वस्तुतः एक काल्पनिक मुनि का नाम है। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों के उल्लेखानुसार नाटक के नट को 'भरत' कहा जाता था। नाट्यविधान के जो तत्त्व समय-समय पर निर्मित होते गये, उनका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संग्रह 'भरत' (नाटकीय-नट) के नाम पर कर दिया गया। संग्रहकारों में विशेष उल्लेखनीय नाम कोहल का है, और उसके पश्चात् शाण्डिल्य, दत्तिल और मतंग का। सम्भव है कि भरत नामक किसी मुनि का भी इस संग्रह को प्रस्तुत करने में प्रमुख हाथ रहा हो। अस्तु! इस ग्रंथ का संग्रह-काल ३य शती ई० पू० से लेकर ३य शती ई० के बीच माना जाता है।

नाटचशास्त्र के दो संस्करण उपलब्ध हैं–(१) काव्यमाला बम्बई (निर्णय-सागर) का संस्करण, और (२) काशी संस्कृत-सीरीज़ काशी (चौखम्बा) का संस्करण। इनमें क्रमशः ३६ और ३७ अध्याय हैं। बड़ौदा से भी गायकवाड़ ओरियण्टल-सीरीज़ में 'अभिनवभारती' सहित नाट्यशास्त्र का प्रकाशन दो खण्डों (नं० ३६ और ६८) में हुआ है, पर वह अभी तक अपूर्ण है। रायल-एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल द्वारा नाट्यशास्त्र के प्रथम २७ अध्यायों का अंग्रेज़ी-अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। अनुवादक हैं—श्री० एम. एन. घोष। इसके अतिरिक्त दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग द्वारा 'हिन्दी अभिनवभारती' नाम से नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायों की हिन्दी-व्याख्या मूल-पाठ तथा टीका-भाग सहित प्रकाशित करायी गयी है। व्याख्याकार हैं—आचार्य विश्वेश्वर।

नाट्यशास्त्र नाट्यविधानों का एक अमर विश्वकोश है। नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशाला, विभिन्न प्रकार के अभिनय, नाटकीय सन्धियाँ, वृत्तियाँ, संगीतशास्त्रीय सिद्धान्त आदि इसके प्रमुख विषय हैं। इनके अतिरिक्त ६ठे, ७वें और १७वें अध्यायों में काव्यशास्त्रीय अंगों—रस, गुण, दोष, अलंकार तथा छन्द का भी निरूपण हुआ है। नायक-नायिका-भेद का भी इस ग्रन्थ में निरूपण है। स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाओं का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। ग्रन्थकार रसवाद का पूर्ण समर्थक है। रस-स्वरूप-निर्देशक प्रसिद्ध सूत्र, तथा रसनिष्पत्ति-विषयक अन्य प्रचुर सामग्री भी इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसी प्रसंग में गद्य का भी आश्रय लिया गया है।

नाट्यशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों में से निम्नोक्त नाम प्रसिद्ध हैं—उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, भट्टतौत (तोत) और अभिनवगुप्त। इन में से केवल अभिनवगुप्त की ही टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। शेष टीकाकारों का उल्लेख सर्वप्रथम इसी टीका में मिलता है। सम्भावना यह भी है कि इन टीकाकारों की टीकाएँ स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में कभी निर्मित ही न हुई हों। केवल इनके मान्य सिद्धान्त ही मौखिक रूप में प्रचलित रहे हों। अस्तु!

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. भामह

भामह कश्मीर-निवासी कहे जाते हैं। इनका जीवन-काल षष्ठ शतक ई० का मध्यकाल माना गया है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकार है। इसका अन्य नाम भामहालंकार भी है। इस ग्रन्थ में ६ परिच्छेद हैं और कुल ४०० श्लोक। इसमें इन विषयों का निरूपण किया गया है—काव्यशरीर, अलंकार, दोष, न्यायनिर्णय और शब्दशुद्धि।

भामह अलंकारवाद के समर्थक थे। इन्होंने 'वक्रोक्ति' को सब अलंकारों का मूल माना है। काव्य का लक्षण सर्वप्रथम इन्होंने प्रस्तुत किया है। दश के स्थान पर तीन काव्यगुणों की स्वीकृति भी इन्होंने सर्वप्रथम की है, तथा वैदर्भ और गौड नामक काव्यरीतियों के 'प्रदेशाभिधान' का भी इन्होंने सर्वप्रथम खण्डन किया है। इनके ग्रन्थ की महत्ता का प्रमाण इससे भी ज्ञात होता है कि उद्भट जैसे उद्भट आचार्य ने 'भामह-विवरण' नाम से इनके ग्रन्थ पर भाष्य लिखा था। आज यदि यह भाष्य उपलब्ध हो तो उससे भामह-सम्मत सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में अत्यधिक सहायता मिलती। अलंकारवाद के अन्य प्रख्यात आचार्य दण्डी भी इन्हीं के अधिकांश रूप में ऋणी हैं। इनके अतिरिक्त उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के निर्माण में दण्डी के अतिरिक्त भामह का भी आधार ग्रहण किया है।

३. दण्डी

दण्डी का समय सप्तम शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—काव्यादर्श, दशकुमारचरित और अवन्तिसुन्दरीकथा। प्रथम ग्रन्थ काव्यशास्त्र-विषयक है, और शेष दो गद्य-काव्य हैं। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं और श्लोकों की कुल संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्यभेद, रीति और गुण का निरूपण है और द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्र-बन्ध और प्रहेलिका के अतिरिक्त दोषों का भी निरूपण किया गया है।

दण्डी अलंकारवाद के समर्थक थे। काव्य के विभिन्न अंगों को अलंकार में ही अन्तर्निहित समझना इनका मान्य सिद्धान्त था। यहां तक कि रस, भाव आदि को भी इन्होंने रसवदादि अलंकार माना है। भामह के समान इन्होंने भी वैदर्भ और गौड ये दो काव्य-रूप माने हैं, तथा इन्हें 'मार्ग' नाम दिया है। गौड मार्ग की अपेक्षा वैदर्भ मार्ग इन्हें अधिक प्रिय था, फिर भी गौड मार्ग को इन्होंने सर्वथा हेय और त्याज्य नहीं कहा। हाँ, अपेक्षाकृत हीन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अवश्य माना है। अलंकारों के लक्षणों में इन पर भामह का प्रभाव है। दश गुणों और दश दोषों के स्वरूप-निर्धारण में इन्होंने भरत से साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में सहायता ली प्रतीत होती है।

काव्यादर्श अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। [कहा जाता है कि सिंहली और कन्नड़ भाषाओं के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों क्रमशः 'सिय-बस-लकर' और 'कविराजमार्ग' पर काव्यादर्श का स्पष्ट प्रभाव है।] संस्कृत में इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएं रची गयीं। तरुणवाचस्पति की टीका के अतिरिक्त हृदयंगमा, प्रभा आदि टीकाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। एस. के. बेलवल्कर महोदय ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में भी अनुवाद प्रस्तुत किया है। हिन्दी में इस ग्रन्थ के तीन अनुवाद उपलब्ध हैं—१. श्री ब्रजरत्नदास का, २. डॉ० रणवीरसिंह का, तथा ३. श्री रामचन्द्र मिश्र का।

४. उद्भट

उद्भट कश्मीरी राजा जयापीड़ के सभा-पण्डित थे। इनका समय नवम शती का पूर्वार्द्ध है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यालंकारसारसंग्रह, भामह-विवरण और कुमारसम्भव। इनमें से केवल प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसके ६ वर्गों में अलंकारों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अलंकारों के स्वरूप-निर्देश में प्रायः भामह का आश्रय लिया गया है। कुछ अलंकारों के उदाहरण स्वरचित कुमारसम्भव काव्य से भी लिये गये हैं। उद्भट अलंकार-वादी आचार्य थे। दण्डी के समान ये भी रस, भाव आदि को रसवदादि अलं-कारों के अन्तर्गत मानते थे। इन अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इनको है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों के निरूपण करने की जो शैली आगे चलकर मम्मट ने चलायी, उसका मूला-धार भी यही ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाएं उपलब्ध हैं—राजानक तिलक की उद्भट-विवेक और प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति।

उद्भट-प्रणीत 'भामह-विवरण' अप्राप्य है, पर आनन्दवर्द्धन, प्रति-हारेन्दुराज, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, जगन्नाथ आदि ने उद्भट-सम्मत जिन सिद्धान्तों का उल्लेख बार-बार बड़े समादर के साथ किया है, उनका मूल स्रोत यही ग्रन्थ प्रतीत होता है।[1]

---

१. अभी पिछले दिनों लगभग ५-६ मास पूर्व, सम्भवतः मार्च-अप्रेल १९६२ में, 'नवभारत टाइम्स' के किसी अंक में यह प्रकाशित हुआ था कि यह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

५. वामन

उद्भट के समान वामन भी कश्मीरी राजा जयापीड़ के सभा-पण्डित थे। इनका समय ८०० ई० के आसपास है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यह पहला सूत्र-बद्ध ग्रन्थ है। सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में कुछ अध्याय हैं, और हर अध्याय में कुछ सूत्र। ग्रन्थ के पाँचों अधिकरणों में अध्यायों की संख्या १२ है, और सूत्रों की संख्या ३१९। प्रथम अधिकरण में काव्य-प्रयोजनादि के उल्लेख के उपरान्त रीति के तीन भेदों तथा काव्य के विभिन्न प्रकारों का निरूपण है। अगले तीन अधिकरणों में क्रमशः दोष, गुण और अलंकारों का विवेचन है, तथा अन्तिम अधिकरण में शब्दशुद्धि-समीक्षा है।

वामन रीतिवादी आचार्य थे। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इनके मतानुसार गुण रीति के आश्रित हैं। गुण काव्य के नित्य अंग हैं, और अलंकार अनित्य अंग। रस को इन्होंने 'कान्ति' नामक गुण से अभिहित किया है। वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालंकारों में स्थान दिया है।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के संस्कृत, अंग्रेज़ी और हिन्दी तीनों भाषाओं में अनुवाद अथवा भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी-भाष्य आचार्य विश्वेश्वर ने प्रस्तुत किया है, तथा इसकी सारगर्भित, गम्भीर एवं विस्तृत भूमिका डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है।

६. रुद्रट

रुद्रट नाम से कश्मीरी आचार्य मालूम पड़ते है। इनका जीवन-काल नवम शती का आरम्भ माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है, जिसमें १६ अध्याय हैं और कुल ७३४ पद्य। १६ अध्यायों में से ८ अध्यायों में अलंकारों को स्थान मिला है, और शेष अध्यायों में काव्यस्वरूप, काव्यभेद, रीति, दोष, रस और नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। यद्यपि रुद्रट अलंकारवादी युग के आचार्य हैं, किन्तु भरत के उपरान्त रस का व्यवस्थित

ग्रन्थ पाकिस्तान और इटली के सरकारों के मिश्रित प्रयास से प्रकाशित हो चुका है। किन्तु हमें अभी तक यह सुलभ नहीं हुआ, सम्भवतः भारत में अभी तक यह ग्रन्थ नहीं आया है। [दिनांक : २६ अगस्त १९६२]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और स्वतंत्र निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है। नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण भी इन्होंने सर्वप्रथम किया है। नायिका के प्रसिद्ध तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा भी रुद्रट ने की है, तथा अलंकारों का वर्गीकरण भी सबसे पहले इन्होंने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रट काव्यशास्त्रीय आचार्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुछ विद्वान् इन्हें अलंकारवादी मानते हैं, किन्तु अलंकार की अपेक्षा रस के प्रति इनका झुकाव कहीं अधिक है। वस्तुतः रुद्रट उधर ध्वनि-पूर्ववर्ती और इधर ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच एक अनिवार्य कड़ी हैं। इन्हीं दिनों इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित हो रही है।

७. आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। इनका जीवन-काल नवम शती का मध्य भाग है। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रन्थ के कारण है। ग्रन्थ के दो प्रमुख भाग हैं—कारिका और वृत्ति। यद्यपि इस विषय में विद्वानों का मतभेद है कि इन दोनों भागों का कर्त्ता एक व्यक्ति है या दो हैं, पर अधिकतर विद्वान् आनन्दवर्द्धन को ही दोनों भागों का कर्त्ता मानते हैं।

इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं, और ११७ कारिकाएं। प्रथम उद्योत में तीन प्रकार के ध्वनिविरोधियों—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी—का खण्डन किया गया है, तथा ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत में ध्वनि-भेदों का विस्तृत निरूपण है। प्रसंगवश गुण, अलंकार, संघटना और रस-विरोधी तत्त्वों (दोषों) का भी इसी उद्योत में यथेष्ट निरूपण है। अभिधा और लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थिति क्यों आवश्यक है, इस विषय पर भी तृतीय उद्योत में प्रकाश डाला गया है, तथा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि से सम्बद्ध स्फुट प्रसंगों का पर्याप्त विवेचन है।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों में आनन्दवर्द्धन एक युगान्तरकारी आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही एक भेद माना है, पर रसध्वनि के प्रति अन्य ध्वनि-भेदों की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। इनके रसध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य-शास्त्रीय विधान को एक नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। अब अलंकार बाह्य आभूषण मात्र रह गये। गुण रीति के विशिष्ट धर्म न होकर रस के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ही नित्य धर्म बन गये। रीति संघटना-मात्र तथा रसोपकर्त्री बन गयी। दोषों का अनौचित्य तथा उनकी नित्यानित्य-व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गयी। निष्कर्ष यह कि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इनके ध्वनि-सिद्धान्त के आगे न केवल बदल गये अपितु मन्द पड़ गये। इनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने काव्यशास्त्रीय आचार्यों में विभाजन-रेखा खींचकर इन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया—पूर्वध्वनिकालीन आचार्य और उत्तरध्वनिकालीन आचार्य।

ध्वन्यालोक के प्रधान टीकाकार अभिनवगुप्त हैं। टीका का नाम 'लोचन' है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का अंग्रेज़ी-अनुवाद, तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है। इस व्याख्या के कर्त्ता आचार्य विश्वेश्वर हैं। प्रथम उद्योत के लोचन-भाग का हिन्दी-अनुवाद आशालता ने प्रस्तुत किया है। 'लोचन' टीका-सहित इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या इन्हीं दिनों प्रणीत हो रही है।

८. अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त दशम शती के अन्त और एकादश शती के आरम्भ में विद्यमान थे। इनका काव्यशास्त्र के साथ-साथ दर्शन-शास्त्र पर भी समान अधिकार था। यही कारण है कि काव्यशास्त्रीय विवेचन को आप अत्यन्त उच्च स्तर पर ले गये—ध्वन्यालोक पर 'लोचन' और नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव-भारती' नामक टीकाएं इसके प्रमाण हैं। इन टीकाओं के गम्भीर एवं स्वस्थ विवेचन तथा मार्मिक व्याख्यान के कारण इन्हें स्वतंत्र ग्रन्थ का ही महत्त्व प्राप्त है, और अभिनवगुप्त को टीकाकार के स्थान पर 'आचार्य' जैसे महा-महिमशाली पद से सुशोभित किया जाता है। 'लोचन' और 'अभिनवभारती' में स्थान-स्थान पर इनके गुरुओं—भट्टेन्दुराज और भट्टतौत (तोत) के भी सिद्धान्तों का उल्लेख भी बड़े समादर के साथ किया गया है। इनके अतिरिक्त भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याताओं—शंकुक, लोल्लट तथा भट्टनायक के सिद्धान्तों की चर्चा भी इन टीकाओं में की गयी है। इस प्रकार ये दोनों टीकाएँ सैद्धान्तिक क्रमिक विकास को प्रतिपादित करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गयी है। अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' रससिद्धान्त में एक प्रौढ़ एवं व्यवस्थित वाद है, यद्यपि इस वाद का समय-समय पर खण्डन किया गया, किंतु फिर भी यह वाद अद्यावधि अचल बना हुआ है। यहाँ तक कि जगन्नाथ जैसे पण्डितराज ने भी इसे ज्यों का त्यों अपना लिया था।

'अभिनवभारती' (१ म, २ य, ६ ठ अध्याय) की हिन्दी-व्याख्या आचार्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विश्वेश्वर कृत उपलब्ध है। 'लोचन' की हिन्दी-व्याख्या हो रही है। अभिनव-गुप्त-प्रणीत दर्शनशास्त्र के कतिपय ग्रन्थों के नाम हैं—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी, तन्त्रसार और परमार्थसार।

९. राजशेखर

राजशेखर विदर्भ (वरार) के निवासी थे, और कन्नौज के प्रतिहार-वंशी महेन्द्रपाल और महीपाल के राजगुरु थे। इनका जीवन-काल दशम शती का प्रथमार्द्ध माना गया है। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध काव्यमीमांसा नामक इन का एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जो १८ भागों या अधिकरणों में विभक्त है, पर अभी तक 'कविरहस्य'नामक एक ही भाग प्राप्त हो सका है, जिसे सर्वप्रथम गा०ओ० सी० बड़ोदा ने, और फिर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने [हिन्दी-अनुवाद-सहित] प्रकाशित कराया। इस भाग में अठारह अध्याय हैं, जिनमें काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, काकु-वक्रोक्ति, रीति-प्रकार, कवि-भेद, आलोचक-भेद, कविचर्या, राजचर्या, राजदरबारी वैभव, शब्दहरण, अर्थहरण, कवि-समय,काल-विभाग आदि नवीन एवं पुरातन विषयों का अद्भुत और विशद संग्रहात्मक निरूपण है। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर भौगोलिक तथ्यों का उल्लेख आचार्य की 'यायावर'[1] वंश से उत्पत्ति की सार्थकता घोषित करता है। साहित्यविद्यावधू और काव्य-पुरुष की यात्रा की काल्पनिक कथा में एक ही साथ काव्य के तीन अंगों—वृत्ति, रीति और प्रवृत्ति का देशपरक स्वरूप-निर्देश किया गया है। इससे राजशेखर की इतिहास-प्रवृत्ति, भूगोल-रुचि तथा साहित्यिक कल्पनाशक्ति का भी परि-चय मिलता है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में अनेक अप्रख्यात आचार्यों का नामो-ल्लेख है, जो कि भारतीय काव्यशास्त्र की विशाल परम्परा और महान् साहित्य का परिचायक है। निस्सन्देह अपने प्रकार का यह संग्रह-ग्रन्थ एक निराला एवं अभिनव प्रयास है, जो कि अनेक दृष्टियों से अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

राजशेखर के अन्य ग्रन्थ हैं—बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमंजरी (प्राकृत) और विद्धशालभंजिका।

१०. धनंजय और धनिक

कहा जाता है कि धनंजय और धनिक दोनों भाई थे। वे दसवीं शती के अन्त में विद्यमान थे। धनंजय का ग्रन्थ दशरूपक है, और धनिक ने उस

---

१. निरन्तर चलने फिरने वाले गृहस्थ ऋषि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है, जो विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित है। दशरूपक नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसमें चार प्रकाश और लगभग ३०० कारिकाएं हैं। प्रथम प्रकाश में सन्धि आदि नाटकीय अंगों का निरूपण है, और द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका-भेद का। तृतीय प्रकाश में दृश्य काव्य का सांगोपांग निरूपण है, और अन्तिम प्रकाश में रस-विवेचन है। रसनिष्पत्ति के विषय में इन्होंने व्यंजनावाद को अस्वीकृत कर तात्पर्यवाद का समर्थन किया है। 'साधारणीकरण' के प्रसंग में इन्होंने सर्वप्रथम कवि-तत्त्व का समर्थ शब्दों में निर्देश किया है। शान्त रस को ये काव्य में तो ग्राह्य मानते हैं, पर नाटक में नहीं।

भरत मुनि का नाट्यशास्त्र एक तो विशाल ग्रन्थ था, तथा दूसरे इधर कई शताब्दि-पर्यन्त केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का ही अविरत सर्जन होता रहा। इन दोनों कारणों से पाठक नाट्यविधानों से अपरिचित-सा होता जा रहा था। धनंजय ने अपने इस लघु किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ द्वारा साहित्य-मर्मज्ञों को नाट्यशास्त्रीय विधान की ओर आकृष्ट किया। परिणाम-स्वरूप सागरनन्दी और रामचन्द्र-गुणचन्द्र जैसे आचार्यों ने नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, तथा विश्वनाथ जैसे आचार्य ने अपने सकल-काव्यांगनिरूपक ग्रन्थ में नाट्य-विधान से भी सम्बद्ध एक परिच्छेद सम्मिलित कर दिया। अस्तु !

इस ग्रन्थ की संस्कृत में कई टीकाएँ हैं। इधर हिन्दी में भी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक गोविन्द त्रिगुणायत द्वारा प्रणीत, और दूसरी डॉ० भोलाशंकर व्यास द्वारा प्रणीत।

११. कुन्तक

कुन्तक का समय दशम शती का अन्त तथा एकादश शती का आरम्भ माना जाता है। इनकी प्रसिद्धि 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ के कारण है। इसमें चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन तथा वक्रोक्ति का स्वरूप और उसके छः भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तृत निरूपण है, तथा अन्तिम उन्मेष में अन्तिम दो भेदों—प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवरण है।

कुन्तक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' माना। इसके उक्त छः भेदों में काव्य के सभी अंगों को अन्तर्भूत किया। कुन्तक की मौलिकता स्तुत्य है। इन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों की

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वर्द्धमान संख्या को स्थिर करने का मार्ग दिखाया। स्वभावोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में इनकी धारणा साहसपूर्ण है, और रसवदादि अलंकारों का विवेचन नितान्त मौलिक है। वैदर्भादि मार्गों के 'प्रदेशाभिधानवाद'का इन्होंने प्रबल शब्दों में खण्डन किया है, तथा परम्परा से हट कर इन्होंने नवीन गुणों का उल्लेख किया है।

उपलब्ध प्रतियों में ग्रन्थ के प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण हैं, पर अन्तिम दो खण्डित हैं। अब इस ग्रन्थ का आचार्य विश्वेश्वर-प्रणीत हिन्दी-भाष्य भी उपलब्ध है। इसके मूलपाठ में अधिकतर खण्डित पाठ को आचार्य जी ने अपने विचारानुसार जोड़ दिया है, तथा कहीं कहीं शुद्ध भी किया है। इसकी गम्भीर एवं मार्मिक भूमिका डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है।

१२. महिम भट्ट

महिम भट्ट कश्मीर-निवासी प्रतीत होते हैं। इनका समय ११वीं शती का प्रथम चरण है। इनकी कृति का नाम व्यक्तिविवेक है, जिसका शाब्दिक अर्थ है व्यक्ति अर्थात् व्यंजना का विवेक। ग्रन्थ में तीन विमर्श हैं। महिम भट्ट अनुमानवादी आचार्य थे। किन्तु इन्होंने इस ग्रन्थ का नाम 'अनुमानवाद' से सम्बन्धित न करके व्यक्ति (व्यंजना) से किया है, पर आज का समालोचक एवं मनोवैज्ञानिक इसे हीनभावना की प्रतिक्रिया कहेगा। अस्तु !

इस ग्रन्थ के प्रथम और तृतीय विमर्श में इन्होंने आनन्दवर्द्धन-सम्मत ध्वनिसिद्धान्त को अनुमान में अन्तर्भूत करके अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया है। पर महिमभट्ट के अनुमानवाद का अनुसरण नहीं हुआ। यहां तक कि इस ग्रन्थ के ही टीकाकार रुय्यक ने, जो ध्वनिवाद के समर्थक थे, इस वाद का खण्डन तथा उपहास किया है। द्वितीय विमर्श का सम्बन्ध दोष से है, जिसे इन्होंने 'अनौचित्य' नाम दिया है। मम्मट ने जिन दोषों को अपने ग्रन्थ में निरूपित किया है, उनमें से पांच दोषों के लिए वे महिम भट्ट के ऋणी हैं। यह ग्रन्थ गम्भीर गद्य-शैली में लिखित होने के कारण पर्याप्त रूप में जटिल है। इस ग्रन्थ का भी सम्भवतः हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत हो रहा है।

१३. क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र कश्मीर निवासी थे। वे ११ वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—औचित्यविचारचर्चा, सुवृत्ततिलक और कविकण्ठाभरण। प्रथम ग्रन्थ में औचित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होंने वाणी के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विभिन्न अंगों—वाक्य, गुण, रस, क्रिया, करण, लिंग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रन्थ में छन्द के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रन्थ कवि-शिक्षा से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ की ५ सन्धियों में क्रमशः कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण तथा दोष का विवेचन है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय हैं, पर इनमें काव्य के बहुविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि 'औचित्य' कोई नया तत्त्व नहीं है, आनन्दवर्द्धन 'औचित्य' शब्द को और महिम भट्ट 'अनौचित्य' शब्द को अपने दोष-प्रकरणों में स्थान दे आये थे, पर इसी के आधार पर समस्त वागङ्गों को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान् औचित्य को भी काव्यशास्त्र का एक सिद्धान्त मानने लगे हैं, पर हमारे विचार में यह काव्यशास्त्रीय विधानों में से एक आवश्यक विधान है, यह कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। इस ग्रन्थ की हिन्दी-टीका डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने प्रस्तुत की है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने अंग्रेज़ी में 'क्षेमेन्द्र स्टडीज़' नाम से, और श्री रामपाल विद्यालंकार ने हिन्दी में 'क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि' नाम से, क्षेमेन्द्र की मान्यताओं पर विशिष्ट प्रकाश डाला है।

१४. भोजराज

भोजराज धारा के नरेश थे। इनका जीवन-काल ११ वीं शती का प्रथमार्द्ध है। भोज कवियों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त स्वयं भी प्रगाढ़ आलोचक एवं काव्यशास्त्री थे। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश। ये दोनों ग्रन्थ विशालकाय हैं। प्रथम ग्रन्थ में पांच परिच्छेद हैं। इनमें दोष, गुण, अलंकार और रस का विशद और संग्रहात्मक विवेचन है। स्थान-स्थान पर प्राचीन आचार्यों के उद्धरणों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। शृंगारप्रकाश में ३६ प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों में व्याकरण-सम्बधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। अगले चार प्रकाशों में गुण, दोष, महाकाव्य और नाटक का विवेचन है, तथा अन्तिम २४ प्रकाशों में रस का सांगोपाग विशद निरूपण है। भोज का प्रमुख सिद्धान्त है—केवल शृंगार रस की मान्यता तथा इसी में अन्य रसों का अन्तर्भाव। पर शृंगार के विषय में भोज की धारणा परम्परागत शृंगार रस से नितान्त विभिन्न है। शृंगारप्रकाश अभी तक अप्रकाशित है, पर डॉ० राघवन के अंग्रेज़ी भाषा में लिखित प्रबंध भोज'स् शृंगारप्रकाश से इस ग्रन्थ का सम्यक् परिचय मिल जाता है। इस प्रबंध के प्रथम दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं, तथा शेष दो अभी प्रकाशित नहीं हुए। भोजराज के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों को 'काव्य-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शास्त्रीय विश्वकोष' कहना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरण पद्यबद्ध ग्रन्थ है, और इस की शैली सरल सुबोध है, किन्तु शृंगारप्रकाश गम्भीर और प्रौढ़ शैली में रचित गद्य-पद्यबद्ध ग्रन्थ है। इन दो विभिन्न शैलियों को देखकर सहज अनुमान होता है कि इन ग्रन्थों के कर्त्ता कदाचित् भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, और यह अनुमान भोजराज जैसे आश्रयदाता के विषय में ठीक भी हो सकता है। सम्भव है दो विभिन्न आचार्यों ने ये ग्रन्थ लिखकर भोजराज के नाम पर समर्पित कर दिये हों, किन्तु फिर भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। हिन्दी में भोज के इन दोनों ग्रन्थों की हिन्दी-व्याख्या अत्यन्त अपेक्षित है।

१५. मम्मट

मम्मट काश्मीर के निवासी माने जाते हैं। इनका जीवनकाल ११ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनकी प्रख्याति 'काव्यप्रकाश' के कारण है, जिसमें दश उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु तथा काव्यभेदों की चर्चा है। अगले दो उल्लासों में शब्दशक्ति का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनिभेदों तथा उनके अन्तर्गत रस-भावादि का गम्भीर विवेचन है। पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के भेदों के स्वरूप-निर्देश के उपरान्त ध्वनि की स्थापना की गयी है। षष्ठ उल्लास में चित्र-काव्य का संक्षिप्त सा परिचय है, तथा अन्तिम चार उल्लासों में क्रमशः दोष, गुण, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण है। अनुप्रास नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत वृत्तियों अथवा रीतियों की भी चर्चा की गयी है। इस प्रकार उनका यह ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण बन् गया है।

काव्यशास्त्र के आचार्यों में मम्मट का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके निरूपण की प्रमुख विशेषता है अपने समय तक की काव्यशास्त्रीय सभी विषय-सामग्री का स्वच्छ एवं उपादेय संकलन, तथा उसका ध्वनि-सम्प्रदाय की दृष्टि से व्यवस्थापूर्ण सम्पादन। यह ग्रन्थ इतना सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध है कि अद्यावधि इसके अध्ययन के बिना काव्यशास्त्र का ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय की पुष्टि करने के लिए अनुमानवादी, अभिधावादी, लक्षणावादी आदि आचार्यों का प्रवल तर्कों द्वारा खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि की स्थापना की है। अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' अथवा अन्य स्रोतों से भरतसूत्र के चार व्याख्याताओं, भट्ट लोल्लट आदि, के व्याख्यान को इन्होंने अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित एवं सुसम्बद्ध शैली में इतनी परिपूर्णता से प्रस्तुत किया है कि काव्यशास्त्र के विद्यार्थी को मूलस्रोत के अध्ययन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विशेष आवश्यकता नहीं रहती। इससे एक हानि भी हुई—मूल स्रोत धीरे-धीरे लुप्त हो गये। पर हाँ, इससे मम्मट की प्रतिष्ठा में क्षति होने के स्थान पर वृद्धि ही हुई है।

काव्यप्रकाश की अन्य विशेषता है—तीन गुणों की स्वीकृति और उनमें वामन-सम्मत २० गुणों का समाहार। दोष-निरूपण का विस्तार इस ग्रन्थ की अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थक होने के नाते इन्होंने आनन्दवर्धन के समान अन्य काव्याङ्गों का स्वरूप रस-ध्वनि के आधार पर स्थिर किया है। मम्मट की इन विशिष्टताओं का प्रभाव आगामी आचार्यों पर भी पड़ा। विश्वनाथ जैसे आचार्य ने, जिसने मम्मट के काव्यलक्षण का बुरी तरह से खण्डन किया है, अपने ग्रन्थ के निर्माण के लिये कुछ-एक स्थलों को छोड़कर प्रायः शेष सामग्री काव्यप्रकाश से ही लेकर उसे पद्यबद्ध कर दिया है। इधर हिन्दी के रीतिकालीन सर्वांगनिरूपक आचार्यों को भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से काव्यप्रकाश की शरण लिये बिना अन्य मार्ग नहीं सूझा।

इस ग्रन्थ की ख्याति और उपादेयता का परिचय इससे भी मिलता है कि संस्कृत में इस पर ७० से अधिक टीकाएं रची गयी हैं, जिनमें से मौलिकता की दृष्टि से गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका सर्वश्रेष्ठ है, और संकलन की दृष्टि से भट्ट वामन की बालबोधिनी। हिन्दी में भी कई टीकाएं उपलब्ध हैं। इस महान् ग्रन्थ की हिंदी-व्याख्याएँ आचार्य विश्वेश्वर तथा डॉ० सत्यव्रतसिंह ने प्रस्तुत की हैं। आचार्यजी की व्याख्या अनेक दृष्टियों से महत्त्व-पूर्ण है। इस ग्रन्थ के अंग्रेज़ी में भी दो अनुवाद उपलब्ध हैं।

१६. रुय्यक

रुय्यक कश्मीर-निवासी थे। इनका समय १२ वीं शती का मध्यकाल है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' है। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' पर भी टीका लिखी थी। पर इसमें उन्होंने महिम भट्ट के अनुमानवाद को अमान्य ठहराया है, तथा एक स्थान पर उसका उपहास भी किया हैं। अलंकार-सर्वस्व अलंकारों का प्रौढ़ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें दो नवीन अलंकारों—विकल्प और विचित्र का समावेश किया गया है। अलंकारों की शब्दगतता अथवा अर्थगतता का आधार मम्मट ने 'अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध' को माना था, किंतु रुय्यक ने 'आश्रयाश्रयिभाव' को माना है। रुय्यक के ग्रन्थ की एक अन्य विशिष्टता है इसके आरम्भ में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सारगर्भित, मार्मिक और तुलनात्मक समीक्षण का समावेश। यह समीक्षण जितना संक्षिप्त है, उतना ही महत्त्वपूर्ण और सुसम्बद्ध

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है। इनका ग्रन्थ अलंकार-विषयक है, किन्तु इसी आधार पर इन्हें भामह आदि के समान अलंकारवादी नहीं कहना चाहिए। ये अलंकार-निरूपक तो हैं, पर इन्हें अलंकारवादी किसी रूप में नहीं कहना चाहिए।

१७. विश्वनाथ

विश्वनाथ कदाचित् उड़ीसा के निवासी थे। इनका समय १४ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनकी ख्याति साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के कारण हुई है। इसमें दश परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्यस्वरूप, काव्यभेद आदि का निरूपण है, द्वितीय में शब्दशक्ति का, और तृतीय में रस और नायक-नायिका-भेद का। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के प्रकारों का विवेचन है। पंचम परिच्छेद में व्यंजना वृत्ति की स्थापना की गयी है। षष्ठ में दृश्य काव्य का सांगोपांग निरूपण है। अन्तिम चार परिच्छेदों में क्रमशः दोष, गुण, रीति और अलंकार का निरूपण है।

विश्वनाथ ने मम्मट, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, भोजराज आदि के काव्य-लक्षणों का खण्डन प्रस्तुत करने के उपरान्त रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए काव्य का लक्षण निर्धारित किया है। सब से घोर खण्डन मम्मट के काव्यलक्षण का किया गया है, किन्तु फिर भी अपने ग्रन्थ की अधिकांश सामग्री के लिए वे मम्मट के ही ऋणी हैं। आश्चर्य तो यह है कि रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी इन्होंने आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट के समान रस को ध्वनि के एक भेद—'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' ध्वनि का अपर नाम—माना है। अलंकारों के स्वरूप-निर्देश के लिए इन्होंने मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक से भी सहायता ली है।

साहित्यदर्पण अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ रहा है। इस का एक ही कारण है काव्यप्रकाश की सूत्रवद्ध और समास-प्रधान शैली की तुलना में सुबोध शैली में प्रायः पद्यवद्ध सिद्धान्त-प्रतिपादन। इसी विशेषता के द्वारा विश्वनाथ ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। पर मौलिक प्रतिभा और आचार्यत्व की दृष्टि से इन की देन अधिक नहीं है। मम्मट और विशेषतः आनन्दवर्द्धन एवं कुन्तक के काव्य-लक्षणों के खण्डन में इतना सार नहीं है, जितना दुराग्रह अथवा पूर्वाग्रह है। वस्तुतः वे खण्डन केवल खण्डन के लिए ही हैं। इनके ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशिष्टता है—नायक-नायिका-भेद तथा दृश्य काव्य के भेदोप-भेदों का समावेश। इन प्रसंगों के लिए वे धनंजय के ऋणी हैं, पर यहां भी सुबोध शैली इनकी अपनी है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

साहित्यदर्पण पर जीवानन्द शास्त्री की संस्कृत-टीका तथा शालग्राम शास्त्री की 'विमला' नामक हिन्दी-टीका अति प्रख्यात हैं। इसकी हिन्दी-व्याख्या डॉ. सत्यव्रतसिंह ने भी प्रस्तुत की है। विश्वनाथ का दूसरा ग्रन्थ है—काव्यप्रकाशदर्पण, जिसमें काव्यप्रकाश पर टीका लिखी गयी है, पर वह अनुपलब्ध है।

१८. जगन्नाथ

जगन्नाथ का यौवनकाल दिल्ली के प्रसिद्ध शासक शाहजहां के दरबार में बीता था। शाहजहां ने ही इन्हें 'पंडितराज' की उपाधि से विभूषित किया था। अतः इनका समय १७ वीं शती का मध्यभाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'रसगंगाधर' है, जो अपूर्ण है। इसमें दो आनन हैं। प्रथम आनन में काव्य-लक्षण, काव्यहेतु तथा काव्यभेदों के निरूपण के पश्चात् रस, रसदोष तथा गुण आदि का सांगोपांग विशद व्याख्यान है। द्वितीय आनन में ध्वनि के विभिन्न भेदोपभेदों के विवेचन के उपरान्त अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन है, और इसके बाद अलंकार-निरूपण प्रारम्भ हो जाता है। ७० अलंकारों के निरूपण के पश्चात् ग्रन्थ का अगला भाग उपलब्ध नहीं है। अधिक सम्भावना यही है कि इसके आगे ग्रन्थ लिखा ही न गया हो।

जगन्नाथ का काव्यलक्षण अधिकांशतः परिपूर्ण तथा सुबोध है। इन्होंने काव्य के चार भेद माने हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। ये ध्वनि-वादी आचार्य थे, फिर भी रस के प्रति इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। भरत-सूत्र पर उपलब्ध ग्यारह व्याख्याओं का विशुद्ध संकलन भी इसी ग्रन्थ में किया गया है। गुण को रस के अतिरिक्त शब्द, अर्थ और रचना का भी धर्म इन्होंने सर्वप्रथम समान रूप से स्वीकार किया है।

जगन्नाथ की समर्थ भाषा-शैली, सिद्धान्त-प्रतिपादन की अद्भुत एवं परिपक्व विचार-शक्ति, और खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हें प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने का बाध्य करती है। भाषा की कठिनता के कारण विद्वानों की ज्ञान-परीक्षा के लिए रसगंगाधर ग्रन्थ भले ही एक निकष रहा हो, पर साधारण पाठक इसे नहीं अपना सके। किन्तु इससे पण्डितराज के गम्भीर पाण्डित्य की कोई क्षति नहीं होती। इस ग्रन्थ की दो हिन्दी-व्याख्याएं उपलब्ध हैं—एक पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी द्वारा प्रणीत और दूसरी पं० मदनमोहन झा द्वारा प्रणीत।

रसगंगाधर के अतिरिक्त काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनका एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है–चित्रमीमांसा-खण्डन। इसमें अप्पय्यदीक्षित के अलंकार-विषयक चित्रमीमांसा ग्रन्थ की कटु शैली में किन्तु यथार्थ आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: २ :

संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलोकन

संस्कृत का काव्यशास्त्र विकास-बद्ध सिद्धान्तों का एक अमर कोष है। सम्भवतः उधर तीसरी-दूसरी शती ई० पू० से लेकर इधर सत्रहवीं शती ई० पर्यन्त इसके सिद्धान्तों में निरन्तर, कभी तीव्र और कभी मन्द गतिमय, विकास होता रहा। काव्यविधान की जो अवस्था रसवादी भरत के समय—सम्भवतः तीसरी-दूसरी शती ई० पू० अथवा दूसरी-तीसरी ई० में रही होगी, वह अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानने वाले भामह और दण्डी के समय, छठी-सातवीं शती ई० में, परिवर्तित हो गयी। इनके अनुसार रस 'अलंकार' का ही एक रूप मान लिया गया।

आगे चलकर नवीं शती में एक साथ तीन प्रबल काव्यचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनमें से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए, और इसे काव्य की आत्मा घोषित करते हुए अलंकार तथा रस को गौण स्थान दिया, और उद्‌भट ने अलंकारवाद का प्रबल समर्थन किया। इनके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन को इस शास्त्र का युग-प्रवर्त्तक कहा जाता है, और सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को इन्हीं के ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है: (१) ध्वनि-पूर्ववर्ती काल, (२) ध्वनि-काल अथवा आनन्दवर्द्धन-काल और (३) ध्वनि-परवर्ती काल।

इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे। धनंजय (दसवीं शती) ने इसे 'तात्पर्य' में अन्तर्भूत किया, कुन्तक (दसवीं-ग्यारहवीं शती) ने 'वक्रोक्ति' में, और महिमभट्ट (ग्यारवीं शती) ने अनुमान में। परन्तु मम्मट (ग्यारहवीं शती) ने अपने गम्भीर विवेचन द्वारा ध्वनि-विरोधियों का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त की अकाटच रूप से स्थापना की, और इसके प्रति आस्था उत्पन्न कर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दी। यह आस्था अगली छः शताब्दियों तक निरन्तर बनी रही। यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करने वाले जयदेव (तेरहवीं शती) ने भी अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया; ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले विश्वनाथ ने न केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण किया, अपितु रस को ध्वनि का ही एक भेद माना। संस्कृत के अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया।

मम्मट से पूर्व और इनके पश्चात् अनेक आचार्यों ने संग्रह-ग्रन्थों का भी निर्माण किया। इस दिशा में मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट, भोज और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है, और परवर्ती आचार्यों में जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशव मिश्र और कविकर्णपूर का। मम्मट-परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यों ने काव्य के प्रायः सभी अंगों को अपने ग्रन्थों में समाविष्ट किया है।

इन संग्रहकर्त्ता आचार्यों के अतिरिक्त दो अन्य आचार्य उल्लेखनीय हैं—भानुमिश्र और अप्पय्यदीक्षित। भानुमिश्र ने दो ग्रंथों का निर्माण किया। इनमें से रसतरंगिणी का सम्वन्ध रस के साथ है, और रसमंजरी का नायक-नायिका-भेद के साथ। अप्पय्यदीक्षित के तीन ग्रंथों में से 'वृत्तिवार्त्तिक' शब्दशक्ति-विषयक ग्रन्थ है, और 'कुवलयानन्द' तथा 'चित्रमीमांसा' अलंकार से सम्बद्ध ग्रन्थ है।

●

संस्कृत के आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अतिरिक्त नाट्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी समय-समय पर सर्जन किया। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' की व्यापक, विस्तृत और बहुविध विषय-सामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रन्थ नाट्यविधान-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की अनेक शताब्दियों से प्रचलित परम्परा का सुपरिणाम है। भरत के पश्चात् यह परम्परा बन्द-सी हो गयी। इसका सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि काव्यविधान के उत्तरोत्तर गम्भीर निर्माण ने आचार्यों को उस दिशा से विमुख-सा कर दिया। इनके लगभग तेरह-चौदह सौ वर्ष उपरान्त धनंजय, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय और शिंगभूपाल ने प्रमुखतः नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण कर इस काव्यांग का पुनरुद्धार किया। सर्वांग-निरूपक आचार्यों में अकेले विश्वनाथ ने धनंजय के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्यविधान को भी अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किया।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद का विषय काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र से ही अधिक सम्बद्ध है। यही कारण है कि उक्त सभी नाट्य-शास्त्रकारों ने इस प्रसंग का भी निरूपण करना आवश्यक समझा है। इनके अतिरिक्त रुद्रट, रुद्रभट्ट,भोज, अग्निपुराणकार, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी, और अकबरशाह के ग्रन्थों का प्रधान विषय ही नायक-नायिका-भेद है।

काव्यसिद्धान्त और नाट्यसिद्धान्त के अतिरिक्त संस्कृत-काव्यशास्त्र का तीसरा प्रधान विषय है—कविशिक्षा। राजशेखर, वाग्भट द्वितीय, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द और देवेश्वर ने अपने ग्रन्थों में अन्य काव्यांगों के साथ इसे भी निरूपित किया है।

●

उक्त मौलिक आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारों का भी इस दिशा में योगदान कुछ कम नहीं है। भरत के प्राचीन व्याख्याताओं में उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टतौत (तोत), भट्टनायक और अभिनवगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से केवल अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। अन्य टीकाकारों का इसी टीका में उल्लेख मिलता है। उद्भट ने संभवतः भामह के ग्रन्थ की भी टीका 'भामह-विवरण' नाम से प्रस्तुत की थी। दण्डी का प्रसिद्ध टीकाकार तरुण वाचस्पति है। उद्भट के दो टीकाकार हैं—राजानक तिलक और प्रतिहारेन्दुराज। वामन का प्रसिद्ध टीकाकार गोपेन्द्रत्रिपुर हरभूपाल है। आनन्दवर्द्धन के टीकाकारों में अभिनवगुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इस टीका का नाम 'लोचन' है। धनंजय का टीकाकार धनिक है, और महिमभट्ट का रुय्यक। मम्मट के ग्रन्थ के लगभग सत्तर टीकाकार बताये जाते हैं, जिनमें से प्रख्यात एवं उद्भावक टीकाकार गोविन्दठक्कुर है। विश्वनाथ के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरण तर्कवागीश और शालग्राम हैं, और जगन्नाथ का टीका-कार नागेश भट्ट है। इन टीकाकारों के गम्भीर प्रौढ़ एवं तर्कसम्मत व्याख्यान-विवेचन ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के परीक्षण, पोषण एवं परिवर्द्धन में, तथा इनसे सम्बद्ध समस्याओं को सुलझाने में महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय सहायता दी है। इन टीकाकारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अभिनवगुप्त का है, अतः इन्हें आचार्य-पद से विभूषित किया जाता है।

●

समग्र काव्यशास्त्रीय वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखते हुए काव्यशास्त्र के दश अंग माने गये हैं। इन्हें काव्यशास्त्रीय अंग न कहा जाकर सुविधा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के लिए 'काव्यांग' कहा जाता है। इनकी निर्धारित नामावलि संस्कृत के प्रामाणिक काव्यशास्त्रों में हमें एकत्र उपलब्ध नहीं होती। फिर भी इन की संख्या इस प्रकार पूरी की जा सकती है—(१) काव्यस्वरूप [काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यप्रयोजन, और काव्यहेतु], (२) शब्दशक्ति, (३) ध्वनि, (४) गुणीभूत-व्यंग्य (५) दोष, (६) गुण, (७) रीति, (८) अलंकार (९) नाट्यविधान और (१०) छन्द। इनके अतिरिक्त दो काव्यांग अन्य भी हैं—रस तथा नायक-नायिका-भेद। परन्तु रस का अन्तर्भाव ध्वनि में किया जा सकता है, और नायक-नायिका-भेद का रस में। किन्तु सामान्यतः इन दोनों का निरूपण स्वतन्त्र रूप से किया जाता है। 'रस' का इसलिए कि यह न केवल ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद है, अपितु इसलिए भी कि विश्वनाथ आदि द्वारा इसे काव्य की 'आत्मा' के रूप में स्वीकृत किया गया है। 'नायक-नायिका-भेद' का इसलिए कि यह प्रसंग कलेवर एवं भेदोपभेदों की दृष्टि से इतना अधिक व्यापक एवं दीर्घ है कि रस के अन्तर्गत इसे स्थान देने से रस जैसे महत्त्वपूर्ण अंग के आच्छादित हो जाने की आशंका रहती है। यद्यपि इस प्रकार इन काव्यांगों की संख्या १२ होनी चाहिए, किन्तु फिर भी काव्यांग दश ही माने जाते हैं। अधिकांश आचार्यों ने छन्दोविधान को अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया। नाटय-विधान का भी अधिकांश काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में निरूपण नहीं हुआ। केवल विश्वनाथ ही ऐसे प्रख्यात आचार्य हैं जिन्होंने इसका निरूपण किया है, किन्तु इन्होंने भी दस काव्यांगों की ही प्रकारान्तर से स्वीकृति करने के लिए मानो नायक-नायिका-भेद को रस-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित कर दिया है। अस्तु!

●

संस्कृत के प्रमुख आचार्यों का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं उनका उत्तरोत्तर विकास करना था। इसके लिये उन्होंने लक्ष्य-ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए प्रायः उदाहरण इन्हीं ग्रन्थों से प्रस्तुत किये। यद्यपि दण्डी, जयदेव और जगन्नाथ जैसे आचार्यों ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, किन्तु ऐसे आचार्यों की संख्या नगण्य है। शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, रीति और दोष के भेदोपभेदों की उत्तरोत्तर वर्द्धमान संख्या इस तथ्य का सबल प्रमाण है कि लक्ष्य-ग्रन्थों की ही तद्युगीन आलोचना के आधार पर वे काव्यांगों के कारों में भी वृद्धि करते चले गये। हाँ, यदि कुन्तक और जयदेव ने अलंकारों की संख्या को कम किया, अथवा मम्मट

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ने अलंकार-दोषों को नितान्त अस्वीकृत किया तो उनका आशय इन सब का स्वसम्मत काव्यांगों में ही अन्तर्भाव करना था, इन्हें लक्ष्य-ग्रन्थों में अस्वीकृत करना उनको अभीष्ट न था । संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित एवं खण्डित-मण्डित होते-होते आनन्दवर्द्धन और तदुपरान्त मम्मट के समय तक इतना प्रौढ़ तथा स्थिर बन गये, कि विभिन्न काव्यसम्प्रदायों अथवा काव्य-सिद्धान्तों की भी परिगणना की जाने लगी ।

काव्यशाास्त्रीय विचार-परम्परा पांच सिद्धान्तों में विभक्त की जाती है । अलंकारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त और रस-सिद्धान्त । इन सिद्धान्तों में से किसे काव्य-सम्प्रदाय माना जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है । 'सम्प्रदाय' शब्द से वह सिद्धान्त अभिहित किया जाना चाहिए जिसका आगे चलकर अन्य आचार्यों द्वारा अनुकरण एवं अनुगमन हुआ हो, तथा उसकी मान्यताओं का विवेचन एवं परिवर्द्धन हुआ हो । इस दृष्टि से अलंकार, ध्वनि और रस-सिद्धान्त तो 'सिद्धान्त' कहाने के साथ-साथ सम्प्रदाय कहाने के भी अधिकारी हैं, किन्तु रीति और वक्रोवित-सिद्धान्त इसके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि न तो किसी आचार्य ने वामन तथा कुन्तक के इन सिद्धान्तों का अनुकरण किया, और न किसी ने इनसे सम्बद्ध धारणाओं एवं मान्यताओं का विकास एवं परिवर्द्धन ही प्रस्तुत किया, वरन् इनका ध्वनि एवं रसवादियों द्वारा खण्डन ही किया गया । इनके विपरीत भामह के अलंकारसिद्धान्त का अनुमोदन, विकास तथा परिवर्द्धन दण्डी और उद्भट द्वारा किया गया, और आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का मम्मट और जगन्नाथ जैसे मर्मवेत्ता आचार्यों द्वारा । रससिद्धान्त भरत, अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ जैसे प्रख्यात आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकृत एवं विकसित हुआ । अस्तु ! वामन के रीति-सिद्धान्त और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को यद्यपि 'सम्प्रदाय' नाम नहीं दे सकते, फिर भी अनेक कारणों से इनका निजी महत्त्व है । एक प्रत्यक्ष कारण तो यह है कि यह दोनों सिद्धान्त काव्य के बाह्यपक्ष के स्वरूप-प्रतिपादक हैं । बाह्य पक्ष आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा निस्सन्देह न्यून कोटि का सही, किन्तु त्याज्य एवं उपेक्षणीय किसी भी में रूप नहीं होता ।

●

उक्त पांच सिद्धान्तों के अतिरिक्त इसी प्रसंग में औचित्य-सिद्धान्त का भी उल्लेख किया जाता है । किन्तु वस्तुतः यह कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र है ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अलंकार आदि पांच काव्य-सिद्धान्तों के प्रवर्त्तक एवं अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्यांगों को समाविष्ट करते हैं—जैसे अलंकारवादी एवं वक्रोक्तिवादी; या अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं—जैसे रस एवं ध्वनिवादी, किन्तु 'औचित्य' नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र इनमें से किसी भी प्रवृत्ति को नहीं अपनाते। वे सभी काव्यांगों को स्वीकार करते हुए केवल उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर ही बल देने के पक्ष में हैं। उदाहरणार्थ, गुण और अलंकार के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'अलंकार और गुण अपने उचित प्रयोग के कारण ही इन्हीं नामों से अभिहित होते हैं अन्यथा नहीं।[1] अलंकार और गुण की स्थिति को क्षेमेन्द्र भी वैसा ही स्वीकार करते हैं जैसा रस एवं ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार उन्हीं के समान वे भी काव्य को 'रससिद्ध' मानने के पक्ष में हैं। पर हाँ, ऐसे 'रससिद्ध' काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है।[2] दूसरे शब्दों में, काव्य का प्रधान तत्त्व रस है, और उसका 'जीवित' है औचित्य। यहाँ 'जीवित' शब्द से तात्पर्य है—किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। केवल गुण, अलंकार और रस ही नहीं, अपितु ऐसे अन्य २४ काव्य से सम्बद्ध तत्त्वों के विषय में भी क्षेमेन्द्र की यही धारणा है कि उनका प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए।[3] इसी पर आधारित रहकर ही अन्य काव्यांग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं अन्यथा नहीं। इस प्रकार 'औचित्य' वस्तुतः कोई स्वतन्त्र वाद अथवा सिद्धान्त न होकर अन्य काव्यांगों को उपादेय बनाने का साधन मात्र है, और साध्य तो वे काव्यांग ही हैं। किन्तु इसके विपरीत उधर उक्त पाँचों काव्यसिद्धान्तों में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, रस तथा ध्वनि विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वयं साध्य माने जाते हैं, तथा अन्य काव्यांग इनके प्रति साधन रहते हैं। अतः 'औचित्य' को स्वतन्त्र सिद्धान्त मानना समुचित नहीं है।

●

इसी प्रसंग से सम्बद्ध एक शंका का समाधान का लेना अपेक्षित है। अलंकारसिद्धान्त आदि पाँचों काव्य-सिद्धान्तों में कालक्रम की स्थिति क्या है?

---

१. उचितस्थानविन्यासाद् अलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः॥ औ० वि० च०–६

२. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ वही—५

३. औचित्यविचारचर्चा ८-१०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वस्तुतः इनमें से केवल रस-सिद्धान्त का ही प्रश्न विवादास्पद है। शेष चारों का क्रम इनके प्रवर्तकों के काल-क्रमानुसार नियत है—अलंकारसिद्धान्त के उपरान्त रीतिसिद्धान्त और इनके उपरान्त ध्वनिसिद्धान्त और वक्रोक्तिसिद्धान्त।

रससिद्धान्त को स्वीकृत करने वाले प्रमुख आचार्य हैं—भरत, अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ। इनमें से अन्तिम दो तो आनन्दवर्द्धन के परवर्ती हैं। जहाँ तक अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, इसकी तुलना अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से करने पर हम निश्चयपूर्वक इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इसकी रचना भी आनन्दवर्द्धन के बाद हुई है। शेष रहे भरत। हमारा विचार है कि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय का प्रणयन, जिनमें क्रमशः रस और भाव का निरूपण हुआ है, या तो भामह और दण्डी के उपरान्त हुआ है, या यदि इनसे पहले इन अध्यायों का प्रणयन हो भी चुका था, तो ये दोनों आचार्य किसी कारणवश इनका अध्ययन नहीं कर सके—शायद ये उन्हें उपलब्ध ही न हुए हों। हाँ, ये दोनों आचार्य 'रस' नामक काव्यतत्त्व से परिचित अवश्य थे। सम्भवतः उन्हें यह परिचिति विद्वद्गोष्ठियों द्वारा मिली हो, क्योंकि इन गोष्ठियों में रस जैसे गम्भीर तत्त्व पर विचार-विमर्श एवं चिन्तन अवश्य होता होगा। किन्तु भामह और दण्डी भरत-प्रस्तुत रस तथा भाव-विषयक चर्चा से परिचित प्रतीत नहीं होते, अन्यथा इस चर्चा से परिचित रहते हुए इसका यथावत् एवं सम्यक् उल्लेख न करना इन दोनों, विशेषतः भामह जैसे प्रौढ़ आचार्य, के लिए नितान्त असम्भव था। भरत-प्रस्तुत रस-विषयक चर्चा इतनी व्यापक, स्वच्छ एवं उपादेय है कि कोई भी काव्यशास्त्री चाहे कितना भी पूर्वाग्रह-ग्रस्त क्यों न हो, इससे प्रभावित हुए विना, और शायद इसका उल्लेख किये विना भी, नहीं रह सकता।

यह कहा जा सकता है कि भामह अलंकारवादी आचार्य था। अतः भरत-प्रस्तुत रस का अन्तर्भाव उसने अलंकार में किया, किन्तु हमारे विचार में विद्वद्-गोष्ठियों द्वारा रस के जिस सामान्य स्वरूप से वह अवगत हुआ, उसी के आधार पर उसने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत कर दी, किन्तु यदि वह भरत द्वारा प्रस्तुत रस-विषयक विशिष्ट चर्चा से परिचित होता तो शायद ऐसी भूल न करता। इसके अतिरिक्त भरत कोई विशिष्ट आचार्य भी तो नहीं माने जाते। वे सम्भवतः एक संग्रहकर्त्ता हैं जिन्होंने समय-समय पर निर्मित एवं निश्चित नाट्यशास्त्रीय [तथा कतिपय काव्यशास्त्रीय] चर्चाओं, मान्यताओं एवं धारणाओं का संकलन प्रस्तुत कर दिया। इसी तथ्य के स्वीकार कर लेने पर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तो यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि रस-भाव-विषयक दोनों अध्याय भामह के उपरान्त संकलित हुए होंगे। भामह से पहले नाट्यशास्त्र में उपलब्ध रस-भाव के प्रसंग प्रणीत हो चुके थे अथवा नहीं—इस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ कह सकना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि भामह और दण्डी [और शायद उद्भट भी] इन स्थलों का अध्ययन नहीं कर सके। हाँ रस-सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन के समय पूर्णतः प्रचलित हो चुका होगा, जिसे कि इन्होंने ध्वनि पर ही आधारित किया, तथा उसे इसी का ही एक उपभेद माना। आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के बीच के काल में तो इस विषय पर जमकर विचार किया गया। लोल्लट, शंकुक, नायक, तौत (तोत) जैसे मर्मज्ञ एवं गम्भीर व्याख्याता इसी काल की उपज हैं। अस्तु! इन सिद्धान्तों का कालानुसार क्रम इस प्रकार होना चाहिए—अलंकार, रीति, रस, ध्वनि और वक्रोक्ति। किन्तु अन्ततः ध्वनिसिद्धान्त ही स्वीकृत रहा, और ध्वनि के ही एक प्रभाग-स्वरूप रस की प्रतिष्ठा तथा इसके प्रति समादर की भावना किसी भी समय किसी भी रूप में कम नहीं हुई।

●

निरूपण-शैली की दृष्टि से देखें तो संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल 'पद्यात्मक शैली' को अपनाया है। इस दिशा में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट रुद्रट, धनंजय, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेख्य हैं। भरत ने कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है। संस्कृत के आचार्यों की दूसरी निरूपण-शैली 'सूत्र-वृत्ति शैली' है। वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिए इन्होंने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली वाग्भट द्वितीय, भानुमिश्र, जगन्नाथ और अकबरशाह की है। तीसरी 'कारिका-वृत्ति शैली' है। आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने इसी शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं, उनकी व्याख्या गद्यबद्ध वृत्ति में है, और उदारण पद्यात्मक हैं।

☆

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ३ :

हिन्दी-रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

[क] हिन्दी में प्रचलित 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति—

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द एक काव्यांग-विशेष के रूप में व्यवहृत रहा है। सर्वप्रथम वामन (९ वीं शती) ने इसका स्वरूप 'विशिष्टा पदरचना' निर्दिष्ट करते हुए इसे 'काव्य की आत्मा' घोषित किया। किन्तु आगे चलकर आनन्दवर्द्धन के समय में ध्वनि—विशेषतः रसध्वनि—को काव्य की आत्मा घोषित किये जाने पर अन्य काव्यांगों के समान 'रीति' की उक्त महत्ता नष्ट हो गयी, और अब वह रस की उपकर्त्री मात्र रह गयी। इस काव्यांग के अनेक भेदों में से सर्वाधिक प्रचलित तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौडी और पांचाली 'रीति' के इस शास्त्रीय अर्थ का ग्रहण और विवेचन संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी के आचार्यों ने भी किया है

किन्तु हिन्दी में 'रीति' शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी रीति-काल के प्रवर्त्तक आचार्य चिन्तामणि के समय (१७ वीं शती ई०) से ही होता आया है, और वह अर्थ है—काव्यरचना-पद्धति अथवा उसका निर्देशक शास्त्र। केशव तथा कुछ-एक रीतिकालीन आचार्यों ने इसी अर्थ में 'पन्थ' शब्द का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :

केशव : समुझैने बाला बालक हूं वर्णन पंथ अगाध।
चिन्तामणि : रीति सु भाषा कबित की वरनत बुध अनुसार।
मतिराम : सो विश्रब्धनवोढ़ यो बरनत कवि रसरीति।
भूषण : सुकविन हूँ की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।
देव : अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति।
सुरतिमिश्र : बरनन मन रंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ।
सोमनाथ : छन्द-रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दास : (क) काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सौं....।
(ख) अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास।
(ग) बंदौं सुकविन के चरण अरु सुकविन के ग्रंथ।
जाते कछु हौं हूँ लह्यो कविताई को पंथ॥
दूलह : थोरे क्रम-क्रम ते कही अलंकार की रीति।
पद्माकर : ताही को रति कहत है, रस-ग्रन्थन की रीति।
बेनीप्रवीन : या रस अरु नव तरंग में, नव रस रीतिहिं देखि।
अति प्रसन्न ह्वै ललन जी, कीन्ही प्रीति विसेखि॥
प्रतापसाहि : कवित रीति कछु कहत हौं व्यंग्य अर्थ चित्त लाय।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'रीति' अथवा 'पंथ' शब्द प्रायः अकेले प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु इनके साथ कोई न कोई विशेषण प्रायः संलग्न है—कवित-रीति, कवि-रीति, काव्य-रीति, छन्द-रीति, अलंकार-रीति, मुक्तक-रीति, वर्णन-पन्थ, कवि-पन्थ और कविता-पन्थ। अतः 'रीति' शब्द काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर व्यापक अर्थ में विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है।

किन्तु हिन्दी में 'रीति-कवि' अथवा 'रीति-ग्रंथ' में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का सम्बन्ध काव्यशास्त्र के साथ ही स्थापित हो गया है, और यही कारण है कि मिश्रबन्धुओं ने 'रीतिकाल' का नाम 'अलंकृत काल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रंथों को रीति-ग्रंथ और उनके विवेचन को रीति-कथन कहा है। 'मिश्रबन्धु विनोद' में एक स्थान पर रीति शब्द के तत्कालीन प्रयोग की बड़ी स्वच्छ व्याख्या की गयी है : "इस प्रणाली के साथ रीति-ग्रंथों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई। × × × आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानों वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषय के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रंथों से प्रत्यक्ष प्रगट है कि वह विविध वर्णनों वाले ग्रंथों के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न।"

तात्पर्य यह कि 'रीति' शब्द, जैसा कि कुछ लोगों का विचार है, शुक्ल जी का आविष्कृत नहीं है। वह बहुत पहले से हिंदी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिये तो शुक्ल जी ने कहीं भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की। यह शब्द स्वयं इतना सुपरिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी' शुक्ल जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। उनसे पूर्व 'रीति'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षण-ग्रंथों के लिए भी, जिनमें रीति-कथन तो नहीं है, परंतु रीति-बन्धन निश्चित रूप से है, 'रीति' संज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्ल जी ने वामन-सम्मत 'रीति' शब्द का कुछ अंशों में अर्थ-संकेत ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक 'प्रकार' न मानकर एक 'दृष्टिकोण' माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में जिस कवि ने रीति-ग्रन्थ रचा हो केवल वही रीति-कवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीति-बद्ध हो वह भी रीति-कवि है। शुक्ल जी के उपरांत कुछ आलोचकों ने इस काल को 'रीति-काल' की अपेक्षा अलंकार-काल या शृंगार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिंदी में उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिंदी के लगभग सभी विद्वान् आलोचक एवं इतिहासकार केशव, बिहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्यविशेष को, जिसमें रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन अथवा उन नियमों का बन्धन है, रीति-काव्य के ही नाम से पुकारते हैं।

यदि 'रीति' शब्द का हिन्दी में प्रचलित इस विशिष्ट अर्थ का स्रोत संस्कृत के काव्यशास्त्रों से ढूंढने का प्रयास करें तो इधर-उधर से शायद कुछ सामग्री मिल जाए। उदाहरणार्थ, भोज ने 'पंथ' शब्द का प्रयोग किया है, और 'रीङ् गतौ' धातु से रीति शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार कर इस शब्द को 'काव्यपंथ' अथवा 'काव्यमार्ग' का पर्याय माना है। कुन्तक ने भी 'पंथ' को रीति का पर्याय स्वीकार किया है। निस्संदेह इन दोनों आचार्यों के निम्नोक्त उद्धरणों में ये दोनों शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में, काव्यांग-विशेष के अर्थ में, प्रयुक्त हुए हैं, न कि शास्त्रीय अथवा काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में, फिर भी 'रीति' का स्रोत ढूंढ निकालने में उनका यह प्रयोग अप्रत्यक्ष संकेत अवश्य कर देता है :—

भोज—वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥
—स० क० भ० २।२७

कुन्तक—तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति।
—व० जी० १।४४ वृत्ति

इन उद्धरणों में 'रीति' शब्द काव्य-मार्ग अथवा पन्थ का पर्याय होने से इस अर्थ का भी प्रकारान्तर से द्योतक अवश्य है कि आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट जिस मार्ग पर गमन कर कविजन काव्य-निर्माण करते थे उसे भी 'रीति' कहते हैं। इस प्रकार हिन्दी में उपर्युक्त प्रचलित अर्थ का—काव्यरचना-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पद्धति का—आधार भी संस्कृत-काव्यशास्त्र में ढूंढा जा सकता है, किन्तु केवल प्रकारान्तर से, स्पष्ट रूप से नहीं। अस्तु !

'रीति' शब्द के इसी अर्थ के ही आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास का तीसरा काल 'रीतिकाल' नाम से प्रचलित हो गया।

[ख] हिन्दी-रीतिकालीन लक्षणबद्ध काव्य-ग्रन्थ—

ईसा की सत्रहवीं शती के मध्य भाग में संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा के क्षीण होते ही इसे हिन्दी के आचार्यों ने अपना लिया। संस्कृत के अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ और हिन्दी के प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि—ये दोनों समकालीन थे। वस्तुतः हिन्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा रीतिकाल से भी पूर्व ईसा की १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ हो गयी थी। इस शती के पिछले ५० वर्षों में कृपाराम, सूरदास, नन्ददास, रहीम, मोहनलाल, सुन्दर आदि नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथों का और गोपा तथा करनेस अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन कर चुके थे। इनके अतिरिक्त केशव ने काव्य के लगभग सभी अंगों का निरूपण किया था। १७वीं शती का पूर्वार्द्ध, अर्थात् केशव के उपरान्त ५० वर्ष तक का समय, काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण की दृष्टि से नितान्त निष्क्रिय समझा जाता है। परन्तु यह धारणा तभी तक बनी रहेगी, जब तक इस काल में निर्मित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की उपलब्धि नहीं होती। यह परम्परा इस अन्तराल में भी विच्छिन्न नहीं हुई होगी। हाँ, यह अलग बात है कि इस कालखण्ड के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ संख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत अत्यल्प तथा साधारण कोटि के हों और संभवतः इसी कारण काल के कराल गर्त में लुप्त हो गये हों। अस्तु हिन्दी-काव्यशास्त्र की यह धारा वि० सं० १७०० (सन् १६४३ ई०) के आसपास तीव्र वेग से प्रवाहित हुई, और लगभग वि० सं० १९०० (सन् १८४३) तक निरन्तर चलती रही। इस काल के प्रवर्तक आचार्य चिन्तामणि हैं और अन्तिम आचार्य प्रतापसाहि। लगभग २०० वर्षों के इस दीर्घकाल में शतशत रीतिबद्ध ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

ये रीतिबद्ध ग्रन्थ दो प्रकारों में विभक्त किये जाते हैं—लक्षण-लक्ष्यबद्ध और लक्ष्यबद्ध। इनमें से प्रथम प्रकार को 'लक्षण-बद्ध' अथवा 'काव्यशास्त्रीय' आदि ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार के ग्रन्थों में विभिन्न काव्यांगों का लक्षण प्रस्तुत करने के उपरान्त एक अथवा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एकाधिक लक्ष्य अर्थात् उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, दास का काव्यनिर्णय। किन्तु इसके विपरीत द्वितीय प्रकार के ग्रन्थों में किसी काव्यांग अथवा काव्य-तत्त्व का लक्षण ध्यान में रखते हुए भी केवल लक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है, लक्षण नहीं। उदाहरणार्थ—बिहारी, मतिराम आदि की 'सतसइयाँ'। प्रस्तुत लेख में लक्ष्यबद्ध (काव्यशास्त्रीय) ग्रन्थों के विवेच्य विषय एवं प्रतिपादन-शैली पर प्रकाश डाला जाएगा।

●

विवेच्य विषय-सामग्री—रीतिकालीन लक्षण-बद्ध ग्रन्थों को हम तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. रसनिरूपक ग्रन्थ : इनके अन्तर्गत नायक-नायिका भेद के ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। जैसे—सुधानिधि (तोष), रसराज (मतिराम), रसविलास तथा सुखसागर तरंग (देव), रससारांश, शृंगारनिर्णय (दास), रसप्रबोध (रसलीन), जगतविनोद (पद्माकर), नवरसतरंग (बेनीप्रवीन,) व्यङ्ग्यार्थकौमुदी (प्रताप साहि), आदि।

२. अलंकार निरूपक ग्रन्थ : जैसे—भाषाभूषण (जसवन्तसिंह), ललितललाम तथा अलंकार-पंचाशिका (मतिराम), शिवराजभूषण (भूषण) अलंकार-चन्द्रोदय (रसिकसुमति), कर्णाभरण (गोविन्द कवि), कविकुलकण्ठाभरण (दूलह), पद्माभरण (पद्माकर), आदि।

३. विविध-काव्याङ्ग-निरूपक ग्रन्थ : जैसे—कविकुलकल्पतरु (चिन्तामणि), रसरहस्य (कुलपति), काव्यमंजरी (पदुमन मास), काव्यरसायन अथवा शब्दरसायन (देव), काव्यसिद्धान्त (सूरति मिश्र), रसिकरसाल (कुमारमणि), काव्यसरोज (श्रीपति), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ), काव्यनिर्णय (दास), काव्यविलास (प्रतापसाहि), आदि।

इन ग्रन्थों के निर्माता अपने शास्त्रीय विवेच्य विषय के लिए संस्कृत के काव्यशास्त्रों के ऋणी हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यविधान, नाट्यविधान तथा कविशिक्षा इन तीनों विषयों का विवेचन किया गया है, पर इधर रीतिकालीन रीतिग्रन्थों में अधिकांशतः काव्यविधान को ही स्थान दिया गया है, शेष दो विषयों को नहीं। नाट्यविधान से सम्बद्ध हिन्दी का केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है—नारायणकृत नारायणदीपिका, तथा कविशिक्षा-सम्बन्धी उल्लेख भी शायद केवल एक ही ग्रन्थ केशव-प्रणीत कविप्रिया में उपलब्ध है, और यह ग्रन्थ भी रीतिपूर्व युग का है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संस्कृत का काव्यशास्त्र समय समय पर रसवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, ध्वनिवाद तथा वक्रोक्तिवाद का समर्थन एवं खण्डन-मण्डन प्रस्तुत करता रहा था। इधर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य इन वादों के पचड़े में नहीं पड़े। इनमें से अधिकांश ने नायक-नायिका-भेद विषयक ग्रन्थों का प्रणयन किया है, कुछ ने अलंकार-ग्रन्थों का, और कुछ-एक ने इन दोनों का। नायक-नायिका-भेद के लिए वे प्रायः भानुमिश्र के ऋणी हैं, तथा अलंकारों के लिए प्रायः अप्पय्यदीक्षित के। संस्कृत के ये दोनों आचार्य वस्तुतः किसी भी उपर्युक्त वाद अथवा सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं थे। अतः इनके अनुकर्ता हिन्दी के आचार्यों को भी किसी वाद अथवा सम्प्रदाय का समर्थक कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। हिन्दी के कतिपय आचार्यों ने विविधांग-निरूपक ग्रन्थों का भी निर्माण किया है, जिनकी संख्या अपेक्षाकृत अत्यल्प है। इस क्षेत्र में वे प्रायः मम्मट अथवा विश्वनाथ अथवा दोनों के ऋणी हैं। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य थे और विश्वनाथ रसवादी। ये दोनों आचार्य काव्यशास्त्रीय अन्य वादों अथवा सम्प्रदायों से सम्यक् अवगत थे। उनसे अवगत रहकर इन्होंने ध्वनिवाद अथवा रसवाद का निर्वाचन एवं समर्थन किया था। इधर हिन्दी के आचार्य अलंकारवाद, रीतिवाद तथा वक्रोक्तिवाद से सम्यक् अवगत नहीं थे। अतः इनके लिए पांचों वादों में से किसी एक वाद के निर्वाचन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः मम्मट के उपरान्त उनके ग्रन्थ काव्यप्रकाश का इतना अधिक प्रभाव एवं प्रचार हो गया था कि संस्कृत के आचार्य भी शताब्दियों पर्यन्त ध्वनि को छोड़ अन्य वादों की ओर प्रायः प्रवृत्त नहीं हो सके। हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, जगन्नाथ—ये सभी प्रख्यात आचार्य ध्वनिवाद के समर्थक हैं और अधिकांशतः मम्मट के अनुकारक रहे हैं। एक भी ऐसा आचार्य नहीं है जिसने अलंकारवादी भामह, दण्डी और उद्भट का अनुकरण किया हो, अथवा जो रीतिवादी वामन अथवा वक्रोक्तिवादी कुन्तक का अनुगामी रहा हो। यहां तक कि जयदेव ने भी, जिन्हें अलंकारवादी समझा जाता है, उक्त तीनों अलंकारवादियों का अनुकरण नहीं किया। इस प्रकार मम्मट और फिर विश्वनाथ का अनुकरण करने की यही परम्परा सम्पूर्ण हिन्दी-रीतिकाल तक अक्षुण्ण बनी रही। इसी परम्परागत मार्ग का अवलम्बन करते हुए विविध-काव्यांग-निरूपकों में से किसी ने मम्मट के समान ध्वनि का, तथा किसी ने विश्वनाथ के समान रस का समर्थन किया। पर इस समर्थन का उत्तरदायित्व इस बात पर इतना नहीं है कि वे किसी एक सिद्धान्त-विशेष के प्रति विवेचक बुद्धि से

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उन्मुख हुए थे, अपितु इस बात पर अधिक है कि उन्होंने मम्मट अथवा विश्वनाथ में से किसी एक ग्रन्थ का आधार ग्रहण किया था। हिन्दी के प्रख्यात आचार्यों में देव ने अलंकारों के लक्षणों के लिए दण्डी के ग्रन्थ से भी सहायता ली है, पर इसका कारण भी अलंकारवाद का समर्थन नहीं है। एक कारण तो केशव का अनुकरण है, और दूसरा कारण संग्रह-प्रवृत्ति है। इन्होंने अपने एक ग्रन्थ में अलंकारों के स्वरूप के लिए मम्मट और विश्वनाथ की सहायता ले ली है, तो दूसरे ग्रन्थ में दण्डी की। निष्कर्ष यह है कि–

(१) नायक-नायिका-भेद निरूपक आचार्यों को यदि हम रसवादी आचार्य मान भी लें, तो इस कारण नहीं कि इन्होंने विश्वनाथ के समान रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए रस की तुलना में ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को अपेक्षाकृत निम्न कोटि का काव्यांग स्वीकृत किया है, अपितु इसलिए मानेंगे कि इन्होंने भानुमिश्र के समान रस-प्रकरण के एक व्यापक अंग—नायक-नायिका-भेद—का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत किया है, जिससे प्रकारान्तर से इनकी प्रवृत्ति 'रसवाद' की ओर प्रतीत होती है।

(२) ठीक यही स्थिति अलंकार-निरूपक आचार्यों की भी है। इन्हें यदि हम अलंकारवादी मान लें तो इस दृष्टि से नहीं कि वे भामह, दण्डी एवं उद्भट के समान अन्य काव्यांगों का अन्तर्भाव अलंकार में करने के समर्थक हैं, अथवा वे अलंकार को 'काव्यशोभा' का पर्याय स्वीकृत करते हुए केवल इसी काव्यांग को काव्यसर्वस्व मानते हैं, अपितु इसलिए मानेंगे कि इन्होंने जयदेव एवं अप्पय्यदीक्षित के समान 'अलंकार' का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत कर प्रकारान्तर से 'अलंकारवाद' की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखायी है।

(३) इसी प्रकार विविधांग-निरूपक आचार्य 'ध्वनिवाद' अथवा 'रसवाद' से इसलिए सम्बद्ध समझे जाने चाहिएँ कि वे मम्मट अथवा विश्वनाथ के ग्रन्थों के ऋणी हैं, न कि इसलिए कि वे पाँचों वादों के सम्यक् ज्ञाता होकर किसी एक वाद को सर्वोत्कृष्ट समझने के कारण उसके समर्थक हो गये हैं।

(४) यदि इन्हें प्रकारान्तर से अलंकारवादी, ध्वनिवादी अथवा रसवादी मानना अभीष्ट न हो तो इन्हें केवल इन ग्रन्थों के उलथकार ही मानना चाहिए और बस। हमारी सम्मति में वस्तुतः वे केवल उलथाकार ही हैं।

●

विषय-सामग्री का चयन—जहाँ तक विषय-सामग्री के चयन का प्रश्न है, इन्होंने सरल मार्ग का अवलम्बन किया है। इसके लिए इन्होंने कहीं संस्कृत-ग्रन्थों का सरल अनुवाद किया है, कहीं उसका भाव लेकर अपने सुबोध

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्दों में ढाल लिया है और कहीं-कहीं वही शब्द प्रयोग करते हुए इधर-उधर हेरफेर कर उसे रूपान्तरित मात्र कर दिया है। सामग्री के निर्वाचन में भी इन्होंने सरल मार्ग का अवलम्बन किया है। नायक-नायिका-भेद तथा अलंकार के निरूपकों ने तो जानबूझ कर सरल विषय का चयन कर दुरूह शास्त्रार्थ एवं जटिल समस्याओं से अवकाश पा ही लिया है, इधर विविधांग-निरूपकों में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। गम्भीर शास्त्रार्थों से दूर रहकर इन्होंने अधिकांशतः स्थूल विषय-सामग्री तक— काव्यांगों तथा उनके स्थूल भेदोपभेदों के लक्षण एवं उदाहरण-निर्माण तक—ही अपने रीतिकर्म को सीमित रखा है। जहाँ इन्होंने सूक्ष्म और जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया भी है, वहाँ प्रायः ये असफल रहे हैं। इस धारणा की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण लीजिए :

(१) काव्यलक्षण-प्रकरण में मम्मट के लक्षण का विश्वनाथ ने खण्डन किया है। इस प्रसंग को कुलपति और प्रतापसाहि के सिवा शायद किसी भी अन्य आचार्य ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। परन्तु कुलपति के ग्रन्थ में यह प्रसंग एकांगी और अपूर्ण रूप में है, तथा प्रतापसाहि के ग्रन्थ में सर्वथा शास्त्रासम्मत और भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(२) शब्दशक्ति-प्रकरण के अन्तर्गत तात्पर्य वृत्ति के प्रसंग में अन्विताभिधानवादी और अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के मतों को समझाने का किसी आचार्य को साहस नहीं हुआ। कुलपति ने इस प्रसंग को अवश्य छेड़ा है, पर पाठक उसमें उलझ कर रह जाता है। इसी प्रकार व्यंजना-स्थापना जैसे गम्भीर प्रसंग पर भी लेखनी चलाना इनकी सामर्थ्य से बाहर था।

(३) रस-प्रकरण में भरतसूत्र के चारों व्याख्याताओं के मन्तव्यों पर भी प्रकाश नहीं डाला गया। प्रतापसाहि इस मार्ग की ओर अवश्य बढ़े, पर कुछ दूर तक जाकर वापस मुड़ आये। जहाँ तक गये हैं, उसे भी साफ़ नहीं कर सके।

(४) गुण-प्रकरण में गुण और अलंकार के पारस्परिक अन्तर पर कुछ-एक आचार्यों ने थोड़ा-बहुत प्रकाश डालने का प्रयास किया है, परन्तु वे उद्भट के मत को यथेष्ट रूप में प्रकाशित नहीं कर सके।

(५) दोष-प्रकरण के शास्त्रार्थ-प्रसंगों का नितान्त त्याग कर दिया गया है। केवल इतना ही नहीं, अपेक्षाकृत जटिल दोषों का स्वरूप भी निरूपित नहीं किया गया।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यद्यपि कुछ आचार्यों ने प्राचीन शास्त्रीय प्रसंगों में इधर-उधर नवीनता लाने का प्रयास किया है, पर उसमें वे प्रायः पूर्णतः सफल नहीं हुए। उदाहरणार्थ दास ने अलंकारों को तथाकथित 'मूल' अलंकारों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है, पर यह वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक है और न संगत। इसी प्रकार कुलपति की शान्तरस-सम्बन्धी नवीन धारणा भी पूर्णतः शास्त्र-सम्मत नहीं है।

देखा जाए तो रीतिकालीन विविधांग-निरूपक ग्रन्थों में एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण का, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है, पूर्ण, शुद्ध और व्यवस्थित उलथा उपस्थित कर सके। एक क्यों, यदि इन सभी उपलब्ध-ग्रन्थों की सामग्री को समन्वित रूप में देखा जाए, तो भी संस्कृत-ग्रन्थों की सामग्री व्यवस्थित रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं होती। इनके नायक-नायिका-भेद-प्रकरण निस्सन्देह विशालकाय हैं। इन्होंने भानुमिश्र और उसकी 'रसमंजरी' का नाम अमर कर दिया है। इनका उदाहरण-पक्ष सरस तथा शास्त्रसम्मत है, और जीवन के मार्मिक चित्रों का उद्घाटक भी, पर ऐसे प्रसंगों का भी शास्त्रीय पक्ष दुर्बल है। ऐसा एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसमें रसमंजरी के समान नायक-नायिका के भेदोपभेदों के अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से रहित लक्षण प्रस्तुत किये गये हों। यहां तक कि चिन्तामणि ने अकबरशाह-प्रणीत 'शृंगारमंजरी' के शास्त्रीय पक्ष का शब्दशः अनुवाद करने का प्रयास करते हुए भी इसे इतना अस्पष्ट बना दिया है कि इसे मूल पाठ के बिना समझ सकना असम्भव है।

इस प्रकार संस्कृत-काव्यशात्र की तुलना में हिन्दी का रीतिकालीन काव्यशास्त्र वर्ण्य विषय की दृष्टि से लगभग समान होता हुआ भी विषय की व्यापकता, शास्त्रीय विवेचना और प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से शिथिल है, और इस शिथिलता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता। वहां लक्ष्य-ग्रन्थों को ध्यान में रखकर लक्षण-निर्माण प्रमुख उद्देश्य रहा है, यहाँ लक्ष्य-निर्माण को ही प्रमुख उद्देश्य बनाकर पूर्वनिर्मित लक्षणों का आधार ग्रहण किया गया है।

हाँ, अपने प्रमुख उद्देश्य में, उदाहरण-(लक्ष्य-) निर्माण में, ये आचार्य निस्सन्देह अत्यंत सफल रहे हैं। इन्होंने सरस उदाहरणों का एक अक्षय कोष सा तैयार कर दिया है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से तो ये महत्त्वपूर्ण हैं ही, तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन पर भी इनके द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इन ग्रन्थों में उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंने अपना अनुपात खोकर शास्त्रीय विवेचन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को आच्छादित-सा कर दिया है। इस प्रकार ये ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थों की अपेक्षा लक्ष्य-ग्रन्थ ही अधिक बन गये हैं, और इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि रीतिकालीन रीति-ग्रन्थकार वस्तुतः कवि पहले थे और आचार्य बाद में। उधर इनके विपरीत संस्कृत के काव्यशास्त्र-निर्माता, विशेषत: वे जिनका इन कवियों ने आधार ग्रहण किया है, केवल आचार्य थे, कवि नहीं थे।

●

प्रतिपादन-शैली—रीतिकालीन आचार्यों की प्रतिपादन-शैली पर प्रकाश डालने से पूर्व संस्कृत के आचार्यों की प्रतिपादन-शैली पर सामान्य रूप में दृष्टिपात करना आवश्यक है। इन आचार्यों की शैली को तीन प्रधान रूपों में विभक्त कर सकते हैं : पद्यात्मक शैली, सूत्रवृत्ति शैली और कारिका-वृत्तिशैली।

(क) पद्यात्मक शैली—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से भरत ने कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) सूत्रवृत्ति शैली—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिए इन दोनों ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली भानुमिश्र, जगन्नाथ, अकबरशाह आदि की है।

(ग) कारिकावृत्ति शैली—आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने कारिका-वृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिका-बद्ध हैं। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति में है, और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

इधर हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने सामान्यत: प्रथम शैली को अपनाया है। वाग्भट प्रथम की प्रतिपादन-शैली के समान शास्त्रीय विवेचन के लिए इन्होंने दोहा और सोरठा जैसे छोटे छन्दों का प्रयोग किया है, और उदाहरण के लिए प्रायः कवित्त-सवैया जैसे बड़े छन्दों का। केशव, तोष, मतिराम, भूषण, देव, कुमारमणि भट्ट, भिखारीदास. दूलह, पद्माकर, बेनीप्रवीन आदि की प्रतिपादन-शैली यही है। जसवन्तसिंह की शैली इन आचार्यों से थोड़ी भिन्न है। इन्होंने जयदेव के समान शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को प्रायः एक ही दोहे में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। सूत्र-वृत्ति शैली में रचित हिन्दी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कारिकावृत्ति शैली

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

में चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि के ग्रन्थों को रख सकते हैं। पर वस्तुतः ये ग्रन्थ संस्कृत-आचार्यों की इस शैली के ठीक अनुरूप नहीं हैं। आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने गद्यबद्ध-वृत्ति को कारिकागत शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या का साधन बनाया है। इधर कुलपति आदि उक्त आचार्यों ने भी कहीं-कहीं गद्यबद्ध वृत्ति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है, पर इनका गद्यभाग एक तो संस्कृत-ग्रन्थों में प्रयुक्त गद्यभाग की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है, और दूसरे, न तो यह परिष्कृत एवं पुष्ट है, और न इसमें गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही किया गया है। शृंगारमंजरी, ग्रन्थ निःसंन्देह एक अपवाद है। पर एक तो यह हिन्दी का मौलिक ग्रन्थ न होकर सन्त अकबरशाह की संस्कृत-रचना 'शृंगारमंजरी' का चिन्तामणि-कृत हिन्दी-अनुवाद है, और दूसरे, इसके अनुवादक ने प्रायः सर्वत्र पद्यात्मक शैली को ही अपनाया है। कारिकावृत्ति शैली में लिखने वाले संस्कृत-आचार्यों का इन आचार्यों से एक अन्तर और भी है कि उन आचार्यों के उदाहरण उद्धृत है, किन्तु इनके स्वनिर्मित हैं।

निष्कर्ष यह कि हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने पद्यात्मक शैली को अपनाया है। जिन्होंने कारिका-वृत्ति शैली को अपनाया है, वे गद्यभाग में संस्कृताचार्यों के समान गम्भीर, प्रौढ़ एवं खण्डन-मण्डनात्मक विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सके।

●

शास्त्रीय विवेचन में असफलता के कारण—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रीतिकालीन आचार्य शास्त्रीय विवेचन को न तो पूर्णतः शुद्ध और व्यवस्थित ढंग से रूपान्तरित कर सके हैं, और न हिन्दी-साहित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होंने कोई महत्त्वपूर्ण स्थापनाएं ही की हैं। उनकी इस असफलता का प्रथम और प्रधान कारण है आचार्यत्व और कवित्व का एकीकरण, तथा कवित्व द्वारा आचार्यत्व का आच्छादन। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य गौण कारण भी हैं। ये आचार्य, विशेषतः एकांग-निरूपक आचार्य, काव्यशास्त्र के अधिक पण्डित न थे। विविधांग-निरूपक आचार्य अपेक्षाकृत अधिक निष्णात थे, पर उनमें भी संस्कृत के परम्परागत शास्त्रीय गम्भीर विवेचन से सम्यक् अवगत होने की न तो पूर्ण क्षमता थी, न दरबारी वातावरण में रहकर उन सिद्धान्तों से अवगत होने के लिए उनके पास धैर्य तथा समय था, और वस्तुतः न उन्हें इनमें उलझने की आवश्यकता ही थी। उधर, संस्कृत का काव्यशास्त्र अत्यंत

TRIBHUVAN UNIVERSITY LIBRARY 43197
CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गंभीर, विशाल, एवं सूक्ष्म-जटिल होने के साथ-साथ इतना व्यापक एवं सम्पन्न बन चुका था कि अब इसमें अन्य धारणाओं के समावेश के लिए अवकाश कम रह गया था। इनके अतिरिक्त एक बड़ी बाधा थी उपयुक्त गद्यशैली का अभाव। संस्कृत का गद्य गम्भीर एवं प्रौढ़ विवेचन के लिए जितना सशक्त तथा समर्थ था, हिन्दी का गद्य उतना ही शिथिल तथा अशक्त था। गद्य के अभाव में एक छोटे से छन्द, दोहा अथवा सोरठा, में किसी काव्यांग के शास्त्रीय विवेचन को समा देने की प्रचलित प्रवृत्ति भी उनके अपूर्ण एवं अव्यवस्थित विवेचन के लिए अंशतः उत्तरदायी है। फिर भी, ये सब गौण कारण ही हैं, मूल और प्रमुख कारण तो यही है कि उनका आचार्यकर्म कविकर्म का आधार-मात्र था, मुख्य उद्देश्य कविकर्म ही था।

●

स्थान-निर्धारण और योगदान—इस प्रकार इन रीतिग्रन्थकार आचार्यों के ग्रन्थों का समावलोकन करने के उपरान्त अब इनका स्थान-निर्धारण करना और इनके योगदान पर प्रकाश डालना कदाचित् सरल हो गया है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में इन आचार्यों का स्थान निर्धारित करने के लिए केवल संस्कृत के काव्यशास्त्रियों को ही ध्यान में रखना होगा, क्योंकि, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ये केवल उन्हीं के ऋणी हैं, इन्होंने अपने समय से पूर्ववर्ती किसी अन्य भाषा के काव्यशास्त्रियों से सहायता नहीं ली। संस्कृत के आचार्यों को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) उद्भावक आचार्य : जैसे—भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, मुकुलभट्ट, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माता; तथा भरत, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, धनंजय आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माता।

(२) व्याख्याता एवं विवेचक आचार्य : जैसे—मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि।

(३) कविशिक्षक एवं संग्रहकर्त्ता आचार्य : जैसे—अमरचन्द्र यति, देवेश्वर, राजशेखर, केशवमिश्र आदि।

संग्रहकर्ता आचार्य : जैसे—रुद्रट, रुद्रभट्ट भोजराज, अग्निपुराणकार, रुय्यक, हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, भानुदत्त, अप्पय्यदीक्षित आदि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उपर्युक्त वर्गीकरण केवल 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के आधार पर किया गया है, अन्यथा एक श्रेणी के आचार्यों की प्रवृत्ति दूसरी श्रेणी के आचार्यों में भी सरलतापूर्वक ढूंढी जा सकती है । अस्तु !

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य इनके अनुरूप उद्भावक तो हैं नहीं, वे व्याख्याता और कविशिक्षक भी नहीं हैं । इन्हें केवल संग्रहकर्ता आचार्यों के समकक्ष रखा जा सकता है, क्योंकि इधर-उधर इन्होंने जो कतिपय उद्भावनाएं प्रस्तुत की हैं, वे या तो अति निम्न धरातल पर अवस्थित हैं, या फिर भ्रान्त हैं, यही स्थिति इनकी कविशिक्षा-विषयक चर्चाओं की भी है । ये व्याख्याता आचार्य भी नहीं हैं, क्योंकि विवेचन-प्रतिभा की दृष्टि से मम्मट आदि से इनकी क्या तुलना ? हां, ये कोरे संग्रहकर्ता आचार्य हैं । इनमें से सर्वाङ्ग-निरूपक आचार्य हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ आदि जैसे सामान्य कोटि के आचार्यों के समक्ष रखे जा सकते हैं । अलंकार-निरूपक आचार्य जयदेव और अप्पय्यदीक्षित के आसपास ठहरते हैं, और नायक-नायिका-भेद-निरूपक आचार्य रुद्रभट्ट और भानुमिश्र के आसपास । फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस श्रेणी के संस्कृत आचार्यों की अपेक्षा इनकी दो-तीन दृष्टियों से निस्सन्देह उच्चता है—विषय-सामग्री के विस्तार की दृष्टि से, उदाहरण-भाग के आधिक्य तथा वैविध्य की दृष्टि से, तथा हिन्दी-साहित्य-विषयक कतिपय उद्भावनाओं को प्रस्तुत करने की दृष्टि से । इन आचार्यों में परस्पर एक अन्तर और भी है । वे केवल आचार्य थे, ये आचार्य भी हैं और कवि भी । कवि पहले हैं और आचार्य बाद में । इनका उद्देश्य अपने ग्रन्थों द्वारा, उदाहरणों के माध्यम से, बहुविध सरस पद्य-निर्माण भी था, तथा साथ ही जिज्ञासु पाठकों, राजपुत्रों एवं रसिक पारिषदों को कदाचित् काव्यशास्त्रीय शिक्षा देना भी । इस प्रकार ये आचार्य यदि 'कवि-शिक्षक' के रूप में ग्रहण किये भी जाएँ तो उस रूप में नहीं जिस रूप में उपर्युक्त अमरचन्द्र यति, देवेश्वर, राजशेखर आदि को माना जाता है, क्योंकि न तो उनकी शैली में इन्होंने किसी ग्रन्थ का निर्माण किया है, और न विषय-सामग्री के संयोजन की दृष्टि से ये उनके अनुरूप हैं । वस्तुतः इन दोनों के दृष्टिकोण में विभिन्नता है । उन कविशिक्षकों ने कवियों को शिक्षित करने के लिए 'कवि-समय' आदि से सम्बद्ध सामग्री का संकलन यथेष्ट मात्रा में किया था, और इधर इनमें से कुछ-एक ने ऐसी सामग्री प्रस्तुत की अवश्य है किन्तु अत्यन्त अल्पमात्रा में । उधर वे कवियों के शिक्षक है तो इधर ये काव्य-जिज्ञासुओं एवं रसिकजनों के । अतः ये वस्तुतः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकारान्तर से ही सामान्य कोटि के काव्यशास्त्र शिक्षक आचार्य माने जा सकते हैं—आचार्य भी नहीं अपितु आचार्य-कवि।

स्थान-निर्धारण के प्रसंग में अगला प्रसंग यह उपस्थित होता है कि इनकी काव्यशास्त्र-विषयक किस सिद्धान्त में आस्था थी ? क्या यह अलंकार-वादी, रीतिवादी अथवा वक्रोक्तिवादी आचार्य थे, या ध्वनिवादी अथवा रसवादी? इस सम्बन्ध में, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, हमारा विचार है कि ये आचार्य किसी वाद से सम्बन्धित नहीं हैं (देखिये पृ० ४०)।

इस प्रकार इन आचार्यों के सम्बन्ध में निःसंकोच एवं स्पष्टतः कहा जा सकता है कि इन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में कोई योगदान नहीं दिया। हिन्दी के वर्तमान काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका कोई योगदान नहीं है—यह भी स्पष्ट है, क्योंकि आज का समालोचक या तो संस्कृत-ग्रन्थों से सहायता ले रहा है, या पाश्चात्य ग्रन्थों से। परन्तु फिर भी रीति-काल के इन आचार्यों का महत्त्व नगण्य नहीं माना जाएगा। वर्तमान आलोचना-शास्त्र और प्राचीन काव्यशास्त्र के बीच ये अनिवार्य कड़ी हैं। इनका गौरव इस तथ्य में निहित है कि इस विशाल अन्तराल में इन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र को हिन्दी में अवतरित कर काव्यजिज्ञासा एवं अभिरुचि का निरन्तर परि-पोषण किया है, और सम्भवतः इसी परिपोषण का ही यह सुपरिणाम है कि यह अभिरुचि अभी तक न केवल अक्षुण्ण बनी रही है, अपितु उत्तरोत्तर वृद्धि पर है, जिससे काव्यशास्त्र-विषयक नूतन सामग्री संकलित भी हो रही है और नूतन सरणियों का द्वार भी उद्घाटित हो रहा है। इस दृष्टि से रीति-कालीन आचार्य-कवियों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इधर, उदाहरण-पक्ष का व्यापक एवं चमत्कृत रूप से निर्वाह करने में तो इनका योगदान किसी भी दृष्टि से कम नहीं है।[1] इस दिशा में वे संस्कृत-आचार्यों से साक्षात् अथवा असाक्षात रूप से प्रभावित होते हुए भी उनसे कहीं बहुत आगे बढ़ गये हैं।

[ग] हिन्दी-रीतिकालीन उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोत—

रीतिकालीन सैकड़ों, सम्भवतः हज़ारों, रीति-ग्रन्थों में से इने-गिने ग्रन्थों को छोड़ कर शेष लुप्तप्रायः होते जा रहे हैं। चिन्तामणि का कविकुल-कल्पतरु, जसवन्तसिंह का भाषाभूषण, कुलपति का रसरहस्य, मतिराम का ललितललाम और रसराज, देव का शब्दरसायन, भूषण का शिवराज-भूषण, भिखारीदास का काव्यनिर्णय, पद्माकर का पद्माभरण और जगद्विनोद,

१. इस सम्बन्ध में अवलोकनार्थ: 'रीति-शृंगार' (डॉ० नगेन्द्र), तथा 'रीति-काव्यसंग्रह' (डॉ० जगदीश गुप्त)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतापसाहि की व्यंग्यार्थकौमुदी आदि केवल ऐसे गिने-चुने ग्रन्थ ही आज शेष रह गये हैं। यद्यपि ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हैं, पर भारत के कुछ-एक पुस्तकालयों में ही ये प्राप्य हैं। यह अवस्था तो उक्त प्रख्यात एवं प्रतिनिधि ग्रन्थों की है, ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो प्रकाशित हो जाने पर भी न केवल स्मृति से हट चुके हैं, अपितु प्रसिद्ध पुस्तकालयों तक में अप्राप्य हैं, और केवल थोड़े से पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों में प्राचीन ऐतिहासिक पदार्थों के समान प्रदर्शनी की वस्तु बन गये हैं। इनके अतिरिक्त अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। पिछले कुछ वर्षों से कुछ रीति-ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हो रहे हैं, और हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्रकाशित किये जा रहे हैं। इस दिशा में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की 'आकार-ग्रन्थ-माला' का सत्प्रयास सराहनीय है। नीचे प्रकाशित तथा हस्तलिखित उपलब्ध रीति-ग्रन्थों की एक सूची दी जा रही हैं।[1] अप्रकाशित ग्रन्थों का प्राप्ति-स्थान तथा अप्राप्य ग्रन्थों की सूची भी प्रस्तुत की जा रही है :

[क] प्रकाशित ग्रन्थ

आचार्य-नाम (कालक्रमानुसार)	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशक अथवा सम्पादक
केशवदास	कविप्रिया	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
		सं० लाला भगवानदीन
		सं० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी
		सं० हरिचरणदास
	रसिकप्रिया	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
		सं० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी
	केशवग्रन्थावली	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
चिन्तामणि	कविकुलकल्पतरु	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
	शृंगारमंजरी	सं० डॉ० भगीरथ मिश्र
तोष	सुधानिधि	भारतजीवन प्रेस, काशी
जसवन्तसिंह	भाषाभूषण	मन्नालाल बनारस
		सं० ब्रजरत्नदास
		सं० गुलाबराय
		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

१. किन्तु इस सूची को किसी भी रूप में अन्तिम नहीं समझना चाहिए।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

		रामचन्द्र पाठक, बनारस
		हिन्दी-साहित्य कुटीर बनारस
मतिराम	रसराज, ललितललाम	भारतजीवन प्रेस, काशी
	मतिराम-ग्रन्थावली	गंगा पुस्तकालय, लखनऊ
रघुनाथ	रसिक मोहन	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
भूषण	शिवराजभूषण	नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस
	भूषणग्रन्थावली	,,
कुलपति	रसरहस्य	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
देव	शब्दरसायन	हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
	भवानीविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी
	सुखसागर तरंग	बम्बई बुकसेलर, अयोध्या
	रसविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी
	भावविलास	तरुण भारत-ग्रन्थावली, प्रयाग
		भारतजीवन प्रेस, काशी
कुमारमणि	रसिकरसाल	विद्याविभाग, कांकरोली
गोविन्द	कर्णाभरण	भारतजीवन प्रेस, काशी
रसलीन	रसप्रबोध	गोपीनाथ पाठक, काशी
		नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
		भारतजीवन प्रेस, काशी
भिखारीदास	काव्यनिर्णय	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
		भारतजीवन प्रेस, काशी
		गुलशने अहमद प्रेस, प्रतापगढ़
	रससारांश, शृंगारनिर्णय	,,
	भिखारीदास ग्रंथावली	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
समनेस	रसिकविलास	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
रतन कवि	अलंकारदर्पण	,,
ऋषिनाथ	अलंकारमणिमंजरी	आर्य यन्त्रालय, वाराणसी
रामसिंह	अलंकारदर्पण	भारतजीवन प्रेस, काशी
दूलह	कविकुलकण्ठाभरण	दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ
पद्माकर	पद्माभरण जगद्विनोद	भारतजीवन प्रेस काशी
	पद्माकर पंचामृत	रामरत्न पुस्तक भवन, काशी
काशीराज	चित्रचंद्रिका	नागरीप्रचारणी सभा, काशी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गिरिधरदास	भारतीभूषण	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
बेनी प्रवीन	नवरसतरंग	सं० कृष्णबिहारी मिश्र
रसिक गोविन्द	रसिक गोविन्दानन्दघन	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
प्रतापसाहि	व्यंग्यार्थकौमुदी	भारतजीवन प्रेस, काशी
		वाराणसी संस्कृत-यंत्रालय, काशी

[ख] हस्तलिखित प्राप्त ग्रन्थ

आचार्य-नाम (कालक्रमानुसार)	ग्रन्थ-नाम	प्राप्ति-स्थान
चिन्तामणि	श्रृंगारमंजरी	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
मतिराम	अलंकारपंचाशिका	आर्काइव्स लाइब्रेरी, पटियाला
	छंदसारसंग्रह(वृत्तकौमुदी)	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
		कैप्टेन शूरवीरसिंह (अतिरिक्त जिला अधिकारी), बुलन्दशहर
देव	रसविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
	सुखसागरतरंग	,,
	काव्यरसायन	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
कालिदास	वधूविनोद	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
		कैप्टन शूरवीरसिंह (अतिरिक्त जिला अधिकारी), बुलन्दशहर
सूरति मिश्र	काव्यसिद्धान्त	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय ओरछा
कृष्णभट्ट देवऋषि	श्रृंगाररसमाधुरी	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
गोप कवि	रामचन्द्र भूषण	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
		दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
	रामचन्द्राभरण	सवाईमहेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा
याकूब खाँ	रसभूषण	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
कुमारमणि	रसिकरसाल	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
श्रीपति	काव्यसरोज़	पं० कृष्णबिहारी मिश्र गंधौली का पुस्तकालय लखनऊ
रसिक सुमति	अलंकारचन्द्रोदय	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
सोमनाथ	श्रृंगारविलास	,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

	रसपीयूषनिधि	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (निजी पुस्तकालय) मथुरा
		हिन्दी-साहित्यसमिति भरतपुर
		राजपुस्तकालय, भरतपुर
रसलीन	रसप्रबोध	सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा
भिखारीदास	रससारांश	प्रतापगढ़ नरेश पुस्तकालय
	श्रृंगारनिर्णय	प्रतापगढ़ नरेश पुस्तकालय
रसरूप	तुलसीभूषण	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
उदयनाथ कवीन्द्र	रसचन्द्रोदय	सवाई महेन्द्र पुस्तकालय ओरछा
रूपसाहि	रूपविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
शोभाकवि	नवलरसचन्द्रोदय	,,
बैरीसाल	भाषाभरण	पं० कृष्णविहारी मिश्र
रंगखाँ	नायिकाभेद	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
जनराज	कवितारसविनोद	,,
उजियारे कवि	रसचन्द्रिका	,,
यशवन्त सिंह	श्रृंगारशिरोमणि	पं० कृष्णविहारी मिश्र
जगतसिंह	साहित्यसुधानिधि	,,
रामसिंह	रसनिवास	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
	अलंकारदर्पण	,,
रतनेश	अलंकारदर्पण	,,
सेवादास	रघुनाथ अलंकार	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
चन्दन	काव्याभरण	पं० कृष्णविहारी मिश्र
रणधीर सिंह	काव्यरत्नाकर	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
प्रतापसिंह	व्यंग्यार्थकौमुदी	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
	काव्यविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस
रामदास	कविकल्पद्रुम	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
ग्वाल	रसरंग	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (निजी पुस्तकालय) मथुरा
	अलंकारभ्रमभंजन	चतुर्थ त्रैवार्षिक ना. प्र. स. काशी की खोज के अनुसार प्राप्त
	कविदर्पण	,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लछिराम	रावणेश्वरकल्पतरु	पं० कृष्णविहारी मिश्र
	महेश्वरविलास	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा

[ग] उल्लिखित ग्रन्थ

उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त निम्नलिखित रीतिग्रन्थों का उल्लेख हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है :

लेखक	ग्रन्थ	रचना-काल
मोहनलाल	शृंगारसागर	सं० १६१६
वलभद्र मिश्र	रसविलास	सं० १६४०
व्रजपति भट्ट	रंगभावमाधुरी	सं० १६८०
सुन्दर कवि	सुन्दरशृंगार	सं० १६८८
शंभुनाथ सोलंकी	नायिकाभेद	सं० १७०७
तुलसीदास	रसकल्लोल	सं० १७११
मंडन	रसरत्नावली	सं० १७२०
गोपालराम	रससागर	सं० १७२६
सुखदेव मिश्र	रसरत्नाकररसार्णव	सं० १७३० (लगभग)
	शृंगारलता	सं० १७३३
श्रीनिवास	रससागर	सं० १७५०
केशवराम	नायिकाभेद	सं० १७५४
वलवीर	दंपतिविलास	सं० १७५६
देव	जातिविलास	सं० १७६०
लोकनाथ चौबे	रसतरंग	सं० १७६०
खड़गराम	नायिकाभेद	सं० १७६५
वेनीप्रसाद	रसशृंगारसमुद्र	सं० १७६५
श्रीपति	रससागर	सं० १७७०
आज़म	शृंगाररसदर्पण	सं० १७८६
कुन्दन	नायिकाभेद	सं० १७९२
गुरुदत्तसिंह (भूपति)	रसरत्नाकर, रसदीप	१८वीं शती का अन्त
रघुनाथ	काव्यकलाकर	सं० १८०२
उदयनाथ कवीन्द्र	रसचन्द्रोदय	सं० १८०४
शम्भुनाथ	रसकल्लोल, रसतरंगिणी	सं० १८०६
चन्ददास	शृंगारसागर	सं० १८११

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शिवनाथ	रसवृष्टि	सं० १८२८
दौलतराम उजियारे	रसचन्द्रिका, जुगलप्रकाश,	सं० १८३७
	श्रृंगारचरित	सं० १८४१
बेनी बन्दीजन	रसविलास	सं० १८४९
लाल कवि	विष्णुविलास	सं० १८५०
भोगीलाल दुबे	बख़्तविलास	सं० १८५६
यशवंतसिंह	श्रृंगारशिरोमणि	सं० १८५६
यशोदानंदन	बरवै-नायिकाभेद	सं० १८७२
करन कवि	रसकल्लोल	सं० १८९०
कृष्ण कवि	गोविंदविलास	सं० १८९३
नवीन	रंगतरंग	सं० १८९९
जगदीश लाल	ब्रजविनोद-नायिकाभेद	१९वीं शती का अन्त
गिरिधरदास	रसरत्नाकर	,,
नारायण भट्ट	नाट्यदीपिका	,,
चन्द्रशेखर	रसिकविनोद	सं० १९०३
वंशमणि	रसचन्द्रिका	अज्ञात

इन ग्रन्थों की सम्यक् एवं त्वरित उपलब्धि का प्रयास अनिवार्यतः अपेक्षित है। इससे रीतिकालिन साहित्य के नव-मूल्यांकन में पूर्ण सहायता मिलेगी।

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ४ :

आधुनिक युग में काव्यशास्त्र की प्रगति

आलोचना शब्द प्रायः गुण-दोष-परीक्षण का वाचक माना जाता है। आधुनिक साहित्यिक जगत् में आलोचना के स्वीकृत भेदों में शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक आलोचना नामक भेद अपनी एक अन्यतम तथा विशिष्ट महत्ता रखता है। इसका कारण यह है कि आलोचना के व्याख्यात्मक, प्रभावात्मक, निर्णयात्मक, तुलनात्मक, मनोविश्लेषणात्मक आदि भेद उपर्युक्त अर्थ की परिधि के अन्तर्गत जितने यथार्थ रूप में घटित होते हैं, उतने यथार्थ रूप में यह शास्त्रीय आलोचना नामक भेद घटित नहीं होता। यह भेद वस्तुतः अपने आप में गुण-दोष-परीक्षण न होकर गुण-दोष-परीक्षण के मानदंड एवं साधन जुटाता है। इस दृष्टि से काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक ग्रन्थों को यदि आलोचना का एक भेद मान लिया जाता है तो केवल लाक्षणिक रूप से ही। उहाहरणार्थ, रामचन्द्र शुक्ल के 'तुलसीदास' तथा' 'सूरदास' नामक ग्रन्थों को आलोचना-ग्रन्थ कहने में अभिधा शक्ति का व्यापार व्यवहृत होता है, तो उन्हीं के 'रसमीमांसा' ग्रन्थ को आलोचना-ग्रन्थ स्वीकृत कर लेने में लक्षणा शक्ति का। निष्कर्षतः, तथाकथित शास्त्रीय आलोचना यदि साधन है तो व्याख्यात्मक आदि आलोचना-भेद साध्य हैं। शास्त्रीय आलोचना सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन करती है तो व्याख्यात्मक आदि भेद व्यवहार-पक्ष का। यही कारण है कि आलोचना के विभिन्न भेदों में से शास्त्रीय आलोचना नामक भेद अपना अन्यतम एवं विशिष्ट स्थान रखता है। शास्त्रीय आलोचनात्मक ग्रन्थों से तात्पर्य है—काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भरत का नाट्यशास्त्र प्रथम ग्रन्थ माना जाता है, यद्यपि राजशेखर की काव्यमीमांसा के साक्ष्याधार पर भरत से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने भी इस विषय के विभिन्न रूपों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इस प्रकार इस ग्रन्थ-परम्परा को भरत से कई शताब्दि पूर्व तक खींचा जा सकता है। भरत के उपरान्त संस्कृत-भाषा में यह परम्परा शताब्दियों पर्यन्त चलती रही। इस क्षेत्र के अन्तिम

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रख्यात आचार्य जगन्नाथ हैं। इन दोनों आचार्यों के बीच अनुमानतः डेढ़ सहस्त्र वर्ष की अवधि में निम्नोक्त प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई—(क) काव्य-शास्त्रीय और नाट्यशास्त्रीय मौलिक ग्रन्थ, (ख) कविशिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थ, (घ) मौलिक ग्रन्थों की व्याख्यात्मक टीकाएँ, तथा (ग) संग्रह-ग्रन्थ।

जगन्नाथ के उपरान्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन समाप्त नहीं हो गया, अब उसका माध्यम बदल गया। संस्कृत का स्थान हिन्दी ने ले लिया। हिन्दी का सम्पूर्ण रीतिकाल इस दृष्टि से अत्यन्त उर्वर है यद्यपि उसमें मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं हो सका। किन्तु जैसा कि पहले लिख आये हैं इन रीतिकालीन रीतिग्रन्थों ने भारतीय वाङ्मय में इस काव्यशास्त्रीय प्रवृत्ति को सजग बनाये रखने में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। जिसका सुपरिणाम आज हमारे समक्ष यह है कि आधुनिक काल में एक ओर जगन्नाथ-प्रसाद भानु, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया, अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिशंकर शर्मा, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', सीताराम शास्त्री, परमेश्वरानन्द शास्त्री के अतिरिक्त आचार्य विश्वेश्वर आदि भारतीय काव्यशास्त्रीय शैली के आख्याताओं ने, और दूसरी ओर श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, सूर्यकान्त शास्त्री, गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, बलदेव उपाध्याय, नगेन्द्र आदि भारतीय और पाश्चात्य दोनों शैलियों के आख्याताओं ने काव्यशास्त्रीय दिशा में स्तुत्य एवं अनुकरणीय कार्य किया है।

●

आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास को 'ध्वन्यालोक' की हिन्दी व्याख्या से एक नया मोड़ मिला है। इसके प्रकाशन-काल अर्थात् सन् १९५२ से पूर्व साहित्यालोचन, रसमीमांसा, साहित्यमीमांसा, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्यदर्पण, भारतीय साहित्यशास्त्र, रीतिकाल की भूमिका आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध थे, किन्तु वे सभी पाठक को भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का समन्वित रूप देते हुए भी उसे मूल रूप से अवगत न कराते थे। साधारण पाठक को इन ग्रन्थों के लेखकों पर विश्वस्त रहकर इन की धारणाओं से प्रायः सहमत रहकर ही सन्तोष कर लेना पड़ता था। ध्वन्या-लोक की हिन्दी-व्याख्या से पूर्व रसगंगाधर, साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश के हिन्दी-अनुवाद प्राप्य थे। इनमें से काव्यप्रकाश का हिन्दी-अनुवाद (हरि-मंगल मिश्र कृत) तो सरलार्थ मात्र प्रस्तुत करता है। रसगंगाधर का (पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी कृत) अनुवाद अपनी कतिपय विशिष्टताओं से समन्वित होता हुआ भी अत्यधिक शास्त्रीय होने के कारण अनेक स्थलों पर दुरूह है। हाँ,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सन् १९५२ तक हिन्दी-पाठकों को भारतीय काव्यशास्त्र के समझाने में साहित्य-दर्पण की पं० शालग्राम कृत 'विमला' नामक हिन्दी-टीका ने जितना स्तुत्य कार्य किया, उतना किसी भी अन्य हिन्दी-टीका ने नहीं किया था। इधर ध्वन्यालोक की व्याख्या ने हिन्दी-टीकाशैली का नूतन एवं सरल मार्ग प्रशस्त किया। सन् १९५२ के उपरान्त 'वक्रोक्तिजीवित', फिर 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, और फिर (अभिनवभारती १,२,६, अध्याय) तथा 'काव्यप्रकाश', और अन्ततः 'नाट्यदर्पण' की हिन्दी-व्याख्याओं नें इस मार्ग को अधिक दीप्यमान कर दिया, और इस प्रकार क्रमशः ध्वनि, वक्रोक्ति और रीति रस और नाट्यसिद्धान्तों के ग्रंथ हिन्दी-व्याख्या-सहित अपने मूलरूप में हिन्दी-जनता को सुलभ हो गये। इन भाष्यों का श्रेय दिवंगत आचार्य विश्वेश्वर को है। उक्त ग्रंथों में से प्रथम तीन ग्रंथों की बृहद् भूमिकाएं आचार्य विश्वेश्वर के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र ने लिखीं। डॉ० नगेन्द्र ने इन भूमिकाओं में पाठकों के सम्मुख काव्यशास्त्रीय समस्याएं उपस्थित कीं, उनका बुद्धिसंगत एवं शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत किया, तथा उनके सम्मुख भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का तारतम्य निर्दिष्ट किया। उनकी जिज्ञासा-वृत्ति को उभारा तथा शान्त किया। उन्हें इस विषय पर सोचने की दिशा दिखायी और आगे लिखने की सामग्री प्रदान की। इन ग्रंथों के प्रकाशन-काल से आज तक लिखित हिन्दी के साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ किसी न किसी रूप में इन भूमिकाओं के ऋणी हैं। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इन भूमिकाओं में से मेरे विचार में 'वक्रोक्ति-जीवित' की भूमिका को सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिए, और 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' की भूमिका को द्वितीय स्थान। इस तारतम्य का कारण स्वयं 'वक्रोक्ति' और 'रीति' नामक काव्यवादों के विषय-गाम्भीर्य का ही तारतम्य है। हाँ, 'ध्वन्यालोक' की भूमिका अपने विषय पर हिन्दी में अपना विशिष्ट स्थान रखते हुए भी नये सिरे से एक बार फिर लिखे जाने की अपेक्षा रखती है, और यदि इसका लेखक अब इसे फिर लिखे तो अपनी प्रौढ़, परिपक्व, कुशल एवं अनुभवी प्रतिभा के बल पर इसे पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक गम्भीर बना देगा।

'हिन्दी नाट्यदर्पण' की भूमिका आचार्य विश्वेश्वर, डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० सत्यदेव चौधरी ने लिखी। इसी बीच डॉ० सत्यव्रतसिंह-लिखित साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश की, और डॉ० भोलाशंकर व्यास-लिखित दशरूपक और कुवलयानन्द की भी हिन्दी-व्याख्याएं प्रकाशित हुईं, जो अनेक दृष्टियों से पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इस दिशा में दशरूपक,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

काव्यमीमांसा, औचित्यविचारचर्चा, काव्यादर्श और अग्निपुराण के काव्य-शास्त्रीय भाग की हिन्दी-टीकाएं भी उल्लेखनीय हैं, जिनके लेखक क्रमशः डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, स्व० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, डॉ० मनोहरलाल गौड़, डॉ० रणवीरसिंह और श्री रामलाल वर्मा हैं। इधर इन्हीं दिनों भामह का 'भामहालंकार' प्रकाशित हुआ है जिसके हिन्दी-भाष्यकार हैं प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा। रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' हिन्दी-व्याख्या-सहित प्रकाशित हो रहा है। व्याख्याकार प्रस्तुत निबन्ध के लेखक हैं।

●

इसी प्रसंग में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय तीन ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद भी उल्लेखनीय हैं—(१) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (२) काव्य में उदात्त तत्त्व, और काव्यकला। ये ग्रन्थ क्रमशः अरस्तू के "पेरि पोइतिकेस", लोंजाइनस के "पेरि इप्सुस" और होरेस के "आर्स पोएतिका" के हिन्दी-अनुवाद हैं, जो डॉ० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। इन ग्रन्थों की महत्तम विशेषता है इनकी भूमिका। प्रथम दो ग्रन्थों के भूमिका-लेखक डॉ० नगेन्द्र हैं, और तीसरे ग्रन्थ के डॉ० मोहनलाल। प्रथम ग्रन्थ की भूमिका में हिन्दी-पाठक को अरस्तू द्वारा प्रतिपादित 'अनुकरण-सिद्धान्त', 'विरेचन-सिद्धान्त', 'त्रासदी' आदि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय समस्याओं से अवगत कराया गया है, और दूसरे ग्रन्थ की भूमिका में लोंजाइनस द्वारा प्रतिपादित 'उदात्त तत्त्व' और 'कला' से सम्बद्ध समस्याओं से। इन भूमिकाओं में लेखक पहले से भी कहीं अधिक तार्किक एवं मनीषी आचार्य के रूप में स्थान-स्थान पर भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन एवं तारतम्य उपस्थित करता चला गया है। इन दोनों भूमिकाओं—विशेषतः पहली भूमिका का यदि अंग्रेज़ी-अनुवाद प्रस्तुत कर दिया जाए तो अंग्रेज़ी के पाठकों को अरस्तू के समझने में एक भारतीय काव्याचार्य का आलोक मिलेगा, तथा १६५ पृष्ठों का यह लघु प्रबन्ध विश्व के काव्य-शास्त्रीय जगत् में अपना विशिष्ट एवं ऐतिहासिक स्थान बना सकेगा। तीसरे ग्रन्थ 'काव्यकला' की भूमिका में इस कृति के दो प्रमुख विषयों काव्य और नाटक की परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत की गयी है। प्रसंगवश काव्यशैली के सम्बन्ध में रचयिता के विचारों को प्रकट किया गया है, तथा उसके काव्य-सिद्धान्तों के आधारभूत तत्त्व 'औचित्य' पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन तीनों ग्रन्थों विशेषतः 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' ने हिन्दी-पाठकों के लिए पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय अध्ययन का मार्ग उन्मुक्त कर दिया है।

●

उक्त हिन्दी-व्याख्याओं एवं हिन्दी-अनुवादों के उपरान्त काव्यशास्त्रीय दिशा में दूसरा स्थान सैद्धान्तिक आलोचनात्मक ग्रन्थों का है। प्रकाशन-क्रम की दृष्टि से प्रथम स्थान 'रीतिकाव्य की भूमिका' का है, जिसके लेखक डॉ० नगेन्द्र हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त पिछले लगभग १५ वर्ष में इस ग्रन्थ का लेखक अन्य कई ग्रन्थों के माध्यम से इसकी अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत, विशुद्ध एवं स्वच्छ काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत कर चुका है, फिर भी अपने प्रकार का सर्वप्रथम प्रयास होने के कारण यह ग्रन्थ अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है और अद्यावधि संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में प्रयुक्त होता चला आ रहा है।

इस ग्रन्थ के उपरान्त उन्हीं दिनों पं० बलदेव उपाध्याय प्रणीत 'भारतीय साहित्यशास्त्र'(दो भाग), तथा पं० रामदहिन मिश्र प्रणीत 'काव्यदर्पण' और 'काव्यालोक' (दो भाग) प्रकाशित हुए। इन दोनों ग्रन्थों में भारतीय काव्यशास्त्र-सम्बन्धी मान्यताओं का संकलन एवं प्रतिपादन अत्यन्त स्वच्छ रूप में प्रस्तुत है। इस दृष्टि से प्रथम ग्रन्थ कहीं अधिक उपादेय है। इन दोनों ग्रन्थों के लेखक काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड आचार्य हैं। इसका प्रमाण यह है कि उक्त ग्रन्थों के प्रकाशन के उपरान्त अद्यावधि जितने भी काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है उनके लेखक इन दोनों विद्वानों के किसी न किसी रूप में अवश्य ऋणी हैं। पं० बलदेव उपाध्याय ने दोनों भागों के आधार पर 'संस्कृत आलोचना' नाम से अपेक्षाकृत संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित एवं प्रामाणिक ग्रंथ हिन्दी-जगत् को दिया है, जिससे सभी स्तर के जिज्ञासुओं को काव्यशास्त्र-विषयक आवश्यक सामग्री संकलित रूप में उपलब्ध हो गयी है।

●

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक ग्रन्थों के प्रसंग में निम्नोक्त अन्य ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। प्रकाशन-क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम दो उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—डॉ० गुलाबराय प्रणीत 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'काव्य के रूप'। सामान्य पाठकों ने जितना इन ग्रन्थों को अपनाया है, उतना किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं। सुगम शैली और आवश्यक सामग्री का चयन—इन दोनों ग्रन्थों के ये दो महत्त्वपूर्ण गुण हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इनके उपरान्त प्रकाशन-क्रम के अनुसार लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और प्रभुदयाल मीतल के 'ब्रजभाषा-साहित्य का नायिका-भेद' का नाम लेना चाहिए। स्पष्टतः, पहले ग्रन्थ में अभिव्यंजना पर, और दूसरे में नायिका-भेद पर प्रकाश डाला गया है। सामग्री-संचयन की दृष्टि से मीतल जी का यह प्रयास सम्भवतः हिन्दी में पहला प्रयास है।

पाँचवाँ ग्रन्थ है—डॉ० भगीरथ मिश्र का 'काव्यशास्त्र', जिसमें काव्य के विभिन्न अंगों पर संकलनात्मक एवं विवेचनात्मक प्रकाश डाला गया है।

छठे और सातवें ग्रन्थ हैं—'व्यंजना में नवीन कविता' और 'भारतीय साहित्यदर्शन'। इन दोनों ग्रन्थों के लेखक श्री राममूर्ति त्रिपाठी हैं। इन ग्रन्थों में भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय सुव्यवस्थित शैली में प्रस्तुत किया गया है। दूसरा ग्रन्थ लेखक की गम्भीरता एवं प्रौढ़ता का अपेक्षाकृत अधिक परिचायक है।

आठवाँ ग्रन्थ है—'नाट्यसमीक्षा', जिसके लेखक डॉ० दशरथ ओझा हैं। इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध १२ लेख प्रस्तुत किये गए हैं, जिनमें से निम्नोक्त पाँच लेख नाट्यशास्त्र एवं नाटक-सम्बन्धी नूतन सामग्री प्रस्तुत करते हैं—(१) रासक का विकास (२) भाषा-नाटक में प्रथम गद्य-प्रयोग, (३) हिन्दी-लोकनाट्य शैली-शिल्प, (४) पन्द्रहवीं शताब्दी का रंगमंचीय नाट्य-साहित्य, और (५) यक्षगान का इतिहास। निस्सन्देह ये लेख तथा अन्य सात लेख भी नाटक के भावी अनुसन्धाताओं के लिए सामग्री-संग्रह तथा प्रेरणा-प्राप्ति दोनों दृष्टियों से अवश्य पठनीय रहेंगे, किन्तु वे इस ग्रन्थ की अव्यवस्थित शैली की अवश्य शिकायत करेंगे। एक सूत्र में अनुस्यूतता लेख अथवा निबन्ध का एक आवश्यक तत्त्व है। आशा है, विद्वान् लेखक आगामी संस्करण में इस तत्त्व के समावेश द्वारा ग्रन्थ की महत्ता को और अधिक बढ़ा लेंगे। रत्नों को एकसूत्र में पिरो देने से उनका मूल्य कहीं अधिक बढ़ जाता है।

नवाँ ग्रन्थ 'भारतीय साहित्यशास्त्र' गणेशत्र्यम्बक देशपाण्डे द्वारा प्रणीत है। यह ग्रन्थ मूलतः मराठी में लिखा गया था, फिर इसका हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इसमें काव्यशास्त्रीय कतिपय तत्त्वों, विशेषतः रस के सम्बन्ध में मौलिक धारणाएं प्रस्तुत की गयी हैं। ग्रन्थ लेखक के गम्भीर अध्ययन का परिचायक है, किन्तु शैली की सुगमता की अपेक्षा रखता है।

दसवाँ ग्रन्थ डॉ रघुवंश द्वारा लिखित 'नाट्यकला' है। इसमें भारतीय नाट्यशास्त्र-विषयक सामग्री को स्वच्छ एवं सारगर्भित-रूप में संजोया गया है, तथा यूरोपीय नाट्य-प्रणाली पर भी किंचित् प्रकाश डाला गया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अन्तिम ग्रन्थ 'अनुसंधान और आलोचना' डॉ० नगेन्द्र की मौलिक प्रतिभा, दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक धरातल पर चिन्तन और विश्लेषणात्मक शैली का उत्कृष्ट नमूना है। इसमें काव्यशास्त्र से सम्बद्ध लेख हैं—'साहित्य का धर्म', 'कविता क्या है' और 'रस शब्द का अर्थ-विकास'।

●

इसी बीच छात्रों की उपयोगिता को ही लक्ष्य में रखकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उदाहरणार्थ—डॉ० रामलालसिंह का 'समीक्षादर्शन', डॉ० दशरथ ओझा का 'समीक्षाशास्त्र', डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (दो भाग), सरोजनी मिश्रा का 'साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त' तथा डॉ० रामदत्त भारद्वाज का 'काव्यशास्त्र की रूपरेखा'।

वस्तुतः पिछले दस-बारह वर्षों में हिन्दी-काव्यशास्त्र की प्रगति में इतनी अधिक त्वरता आ गयी है कि काव्यशास्त्र के किसी सामान्य-मति एवं परीक्षार्थी छात्र के लिए इस वृद्धि के साथ कदम मिला सकना कठिन हो गया है। उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इन्हीं ग्रन्थों की रचना की गयी है। ऐसे ग्रन्थ अपने रचयिताओं के अध्यवसाय एवं संकलन-प्रवृत्ति के परिचायक होते हैं। ये ग्रन्थ यथेष्ट सामग्री संकलित कर देने के साथ-साथ समुचित उद्धरणों को भी जुटा देते हैं, जिससे इनके अध्येता मूल ग्रन्थों के मन्थन करने के श्रम से बच जाते हैं। यह प्रवृत्ति एक दृष्टि से हानिकारक होती हुई भी छात्रों की उपयोगिता की दृष्टि से किसी सीमा तक ग्राह्य रहती है। हाँ, अन्य ग्रन्थों के समान ऐसे ग्रन्थ भी सुव्यवस्थित प्रतिपादन, निर्भ्रान्त विवेचन और शुद्ध उद्धरणों की अपेक्षा रखते हैं, जिनके अभाव में ये ग्रन्थ हानिकारक अतएव अग्राह्य सिद्ध हो जाते हैं। उक्त ग्रन्थों में से 'समीक्षाशास्त्र' वस्तुतः और अधिक व्यवस्थित होना चाहिए था। 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (प्रथम भाग) तथा 'साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त' इन दोनों में—विशेषतः दूसरे ग्रन्थ में—संस्कृत के उद्धरणों की अशुद्धियां बहुत खटकती हैं। फिर भी कुल मिलाकर ये सभी ग्रन्थ जिस उद्देश्य के लिए लिखे गये हैं, उसे पर्याप्त रूप से पूर्ण करते हैं।

●

आधुनिक युग में काव्यशास्त्र-विषयक अनेक प्रबन्ध-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, जिनमें से कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—१. रीतिकाव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, २. हिन्दी अलंकार-साहित्य—डॉ० ओम्प्रकाश, ३. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० भोलाशंकर व्यास, ४. भारतीय काव्यांग—डॉ० सत्यदेव चौधरी, ५. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, ६. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (अलंकार-भाग को छोड़कर)—डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ।

—इनमें से प्रथम ग्रन्थ का उल्लेख यथास्थान पीछे कर आये हैं ।

—'हिन्दी अलंकार-साहित्य' की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें रीतिकालीन प्रख्यात तथा अप्रख्यात आचार्यों के अलंकार-निरूपण का स्वस्थ प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है ।

—'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' में ध्वनि-विषयक शास्त्रीय विवेचन को विद्वत्तापूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है। काव्यशास्त्रीय प्रसंगों में व्यंजना की स्थापना-विषयक प्रसंग अत्यन्त दुरूह एवं जटिल है । भारतीय आचार्यों ने व्यंजना की स्थापना के लिये अन्य वादों के खण्डन में कुशाग्र बुद्धि तथा अन्तस्तल-प्रवेशिनी पर्यवेक्षण-शक्ति से काम लिया है । इधर डॉ० व्यास ने इस प्रसंग को सुबोध एवं स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करके अपनी व्यवस्थित प्रति-पादन-शैली के अतिरिक्त तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का भी परिचय दिया है ।

—तीसरे ग्रन्थ 'भारतीय काव्यांग' में काव्य के दस अंगों का शास्त्रीय एवं विवेचनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। यह अनुशीलन भरत से जगन्नाथ तक लगभग दो सहस्र वर्षों की विकसित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त-परम्परा का शृंखलाबद्ध स्वरूप उपस्थित करता है ।

—'रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' नामक ग्रन्थ में रस-विषयक अनेक प्रसंगों की बहुविध शास्त्रीय सामग्री को अधिकाँशतः सुनियोजित रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

—'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' ग्रन्थ में पण्डितराज जगन्नाथ की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के पृष्ठाधार पर अनेक काव्य-तत्त्वों का विवेचन शास्त्र-सम्मत, सुविचारित एवं स्वच्छ रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

अन्त में दो अन्य संग्रह-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना वाञ्छनीय है—'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' और 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' । ये दोनों ग्रन्थ हिन्दी-विभाग, दिल्ली-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किये गये हैं । इनमें से प्रथम ग्रन्थ में उधर भरत से जगन्नाथ तक, तथा चिन्तामणि से प्रतापसाहि तक, और इधर भारतेन्दु से नगेन्द्र तक के प्रख्यात लेखकों के ग्रन्थों में से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण स्थलों को संकलित किया गया है, तथा संस्कृत-भाग का हिन्दी-अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है ।

दूसरा ग्रन्थ उधर प्लेटो (४२७ ई० पू०-३४७ ई० पू०) से लेकर इधर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आई. ए०. रिचर्डस (जन्म सन् १८९३ ई०) तक की लगभग २२०० वर्ष की सुदीर्घ काव्यशास्त्रीय परम्परा में से गम्भीर, स्थायी एवं महत्त्वपूर्ण स्थलों का स्वस्थ एवं समर्थ हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करता है। इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में मार्क्स, फ्रायड और युंग के भी काव्यशास्त्र से सम्बद्ध कतिपय मार्मिक स्थलों का अनुवाद परिशिष्ट रूप में सम्मिलित कर दिया गया है। इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता है—इन सब लेखकों का जीवनात्मक एवं साहित्यिक परिचय। 'सन्दर्भ-टिप्पणियाँ' नामक परिशिष्ट के अन्तर्गत ग्रन्थ के मूल भाग में प्रयुक्त १९७ नामों—ग्रन्थकारों, चित्रकारों, रचनाओं आदि—का यथावत् परिचय प्रस्तुत किया है, तथा ग्रन्थ के अन्त में लगभग एक सौ अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दों के पर्याय प्रस्तुत किये गये हैं। 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' के समान इस ग्रन्थ में भी यदि मूल स्थल दे दिये जाते तो हिन्दी के पाठक को उद्धरण उपलब्ध करने में सुविधा मिल जाती। अस्तु! इन दोनों ग्रन्थों ने अब भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का नये सिरे से तुलनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करने का एक नया द्वार खोल दिया है।

इन गन्थों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय सामग्री के प्रकाशन में हिन्दी-पत्रिकाओं का योगदान भी कम नहीं है। आलोचना (दिल्ली), समालोचक (आगरा), हिन्दी-अनुशीलन (प्रयाग), नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (काशी), साहित्यसंदेश तथा सरस्वती-संवाद (आगरा), सप्तसिन्धु (चण्डीगढ़), कल्पना (हैदराबाद) आदि पत्रिकाओं में इस विषय से सम्बद्ध जो लेख प्रकाशित होते रहते हैं, उनमें से अनेक अपना स्थायी महत्त्व रखते हैं।

इस प्रकार आधुनिक युग में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण की परम्परा उत्तरोत्तर वृद्धि पर है। यह परम्परा रीतिकालीन युग में भी वृद्धि पर थी, पर यह परम्परा उस युग की परम्परा से नितान्त विभिन्न है। उसमें मौलिक चिन्तन का अभाव था, शुद्ध और स्पष्ट प्रतिपादन की ओर भी ध्यान कम था, किन्तु वर्तमान-कालीन यह परम्परा इन गुणों को यथासम्भव रूप में अपनाने के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का भी प्रयास कर रही है, तथा हिन्दी को लक्ष्य में रखकर नव-सिद्धान्त-निर्माण का भी। निस्संदेह यह परम्परा हिन्दी की गरिमा-वृद्धि में सहायक सिद्ध होगी। हाँ, काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण के नाम पर इधर-उधर कुछ अंशों में जो अस्वस्थ एवं अस्वच्छ साहित्य भी निर्मित हो जाता है, उसके अपसारण के लिए कदम उठाना चाहिए।

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ५ :

हिन्दी में काव्यशास्त्रीय शोध : एक सर्वेक्षण

हिन्दी में 'सैद्धान्तिक शोध' अथवा 'सिद्धान्त-सम्बन्धी शोध' कथन के अन्तर्गत 'सिद्धान्त' शब्द से तात्पर्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त से लिया जाता है—क्योंकि किसी भाषा का साहित्य अथवा काव्य अपने मूलभूत सिद्धान्त के लिए स्वसम्बद्ध साहित्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र का ही आश्रय लेता है।

हिन्दी में शोधकार्य का श्रीगणेश सन् १९१८ से माना जाता है जब 'थियॉलॉजी आफ़ तुलसीदास' पर श्री० जे. एन. कारपेण्टर को लण्डन विश्व-विद्यालय से 'डाक्टर आफ़ डिविनिटी' की उपाधि मिली, और हिन्दी में सैद्धान्तिक शोध का श्रीगणेश सन् १९३७ ई० में हुआ जब श्री० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' को 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी. लिट् की उपाधि से विभूषित किया गया। इसी बीच, १८-१९ वर्ष के अन्त-राल में, केवल छः विषयों पर शोधपरक कार्य किया गया, जिनमें से तीन का सम्बन्ध भारतीय भाषाओं के साथ है, और शेष तीन का भक्तिसाहित्य के साथ। इस प्रकार सैद्धान्तिक शोध-कार्य विषय की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है, और शोध-परक ग्रन्थों के संख्या-क्रम की दृष्टि से आठवें स्थान पर।

●

सन् १९३७ के उपरान्त अद्यावधि—कभी मन्द और कभी तीव्र गति के साथ—सैद्धान्तिक शोध-कार्य होता चला आया है, और लगभग ३० प्रबन्ध स्वीकृत हो चुके हैं। अधिकांशतः यह कार्य हिन्दी-काव्य को ही लक्ष्य में रख कर हुआ है। वस्तुतः होना भी यही चाहिए, क्योंकि केवल संस्कृत के ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अथवा ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर किया गया शोध-कार्य हिन्दी से नहीं अपितु संस्कृत भाषा से ही सम्बद्ध कार्य समझना चाहिए। उदा-हरणार्थ निम्नोक्त चार ग्रन्थों को मूलतः संस्कृत भाषा ही के शोध-प्रबन्ध सम-झना चाहिए, यद्यपि इनका अभिव्यक्ति-माध्यम हिन्दी ही है : १. डॉ० नगेन्द्र-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रणीत 'रीतिकाल की भूमिका'[1] (१९४९), २. डॉ. भोलाशंकर व्यास प्रणीत 'ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' (१९५६), (३) डॉ० सत्यदेव चौधरी प्रणीत 'भारतीय काव्यांग'[2] (१९५९), (४) डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त प्रणीत 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (१९६२)।

वर्गीकरण की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रंथों के उपरांत दूसरा स्थान उन ग्रंथों को मिलना चाहिए जिन में एक अथवा अनेक काव्यांगों का अनुशीलन सिद्धान्त-पक्ष के रूप में उस विकसित परम्परा को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है जो अधिकांशतः संस्कृत से आती हुई हिन्दी की ओर उन्मुख हो गयी है। इन ग्रन्थों का प्रणयन-क्रम इस प्रकार है—१. डॉ०रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' प्रणीत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' (१९३७), २. डॉ० छैलबिहारी 'राकेश' कृत 'साइको-लाजिकल स्टडी आफ़ रस' (१९५४), तथा ३. 'स्टडीज़ इन नायक-नायिका-भेद (अंग्रेज़ी, १९५२, अप्रकाशित), ४. डॉ. ओम्प्रकाश प्रणीत 'हिन्दी साहित्य में अलंकार' (१९५६), तथा ५. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित प्रणीत 'रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' (१९६०)।

इन ग्रन्थों के उपरान्त तीसरा वर्ग उन ग्रन्थों का आता है जिनमें हिन्दी-काव्य के सन्दर्भ में किसी एक काव्यांग का सांगोपांग अनुशीलन व्यवहार-पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रन्थ हैं—१. डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी कृत 'हिन्दी कविता में शृंगार रस का अध्ययन' (१९५५), २. डॉ० शम्भूनाथ-सिंह कृत 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास' (१९५८), ३. डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी कृत 'हिन्दी साहित्य में हास्य रस' (१९५८), ४. डॉ० संसारचन्द्र कृत 'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति' (१९५८), ५. डॉ० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव कृत करुणरस : मध्ययुगीन रामकाव्य के परिवेश में (१९६१), ६. डॉ० मिथिलेश-कान्ति कृत 'हिन्दी कविता में भक्ति-शृंगार का स्वरूप' (१९६२), ७. डॉ० वटेकृष्ण कृत 'हिन्दी काव्य में वीर रस' (१९६२), ८. डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी कृत 'आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार-विधान' (१९६२), डॉ० रामाधार शर्मा कृत 'हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा' (१९६२)। इनके अतिरिक्त डॉ० पूर्णमासी राय कृत 'कृष्णभक्ति में मधुर रस', डॉ० तारा कपूर कृत 'हिन्दी काव्य में करुण रस' आदि कतिपय ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं।

---

१. 'रीतिकाल की भूमिका' लेखक के शोध-प्रबन्ध का पूर्वार्द्ध है।

२. 'भारतीय काव्यांग' लेखक के शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय की पृष्ठ-भूमियों का संकलन है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चौथे वर्ग में उन प्रबन्धों को रख सकते हैं जो एक अथवा अनेक रीति-कालीन आचार्य-कवियों पर लिखे गये हैं, और उन्हीं के अन्तर्गत काव्यसिद्धान्तों की भी चर्चा की गयी है[1]—१. डॉ० नगेन्द्र प्रणीत 'देव और उनकी कविता' (१९४९), २. डॉ० हीरालाल दीक्षित प्रणीत 'आचार्य केशवदास' (१९५४), ३. डॉ० नारायणदास खन्ना प्रणीत 'आचार्य भिखारीदास' (१९५५), ४. डॉ० सत्यदेव चौधरी प्रणीत 'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' (१९५९), ५. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त प्रणीत 'हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी' (१९५९),७. डॉ० रामसागर त्रिपाठी प्रणीत 'मुक्तकाव्य-परम्परा और बिहारी' (१९६०), ८. डॉ० महेन्द्रकुमार प्रणीत 'मतिराम कवि और आचार्य' (१९६०), ९. डॉ० त्रिभुवनसिंह प्रणीत 'महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण-प्रवृत्ति' (१९६०), १०. डॉ० विजयपालसिंह प्रणीत 'केशव और उनका साहित्य' (१९६१), ११. डॉ० किरणचन्द्र शर्मा प्रणीत 'केशवदास : जीवनी, कला और कृतित्व' (१९६१)।

अब शेष तीन शोध-प्रबंध रहते हैं जो अपनी क्षेत्र-सीमा में अकेले-अकेले ग्रन्थ हैं। पहला ग्रन्थ है डॉ० भगीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' (१९४७), दूसरा ग्रन्थ है डॉ. रामलालसिंह प्रणीत 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त' (१९५७), और तीसरा ग्रन्थ है डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त प्रणीत 'आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धान्त' (१९५९)।

इनमें से कतिपय प्रकाशित ग्रन्थों का सामान्य परिचय इस प्रकार है :

--डॉ० 'रसाल' का प्रकाशित ग्रन्थ 'अलंकारपीयूष' (दो भाग) उनके उपरि-निर्दिष्ट शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' का परिवर्द्धित एवं परिवर्तित रूप कहा जाता है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्वतंत्र अलंकार-ग्रन्थ के रूप में ही परिणत कर दिया गया है। उनके शोध-ग्रन्थ की जो रूपरेखा 'हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध' (सम्पादक : डॉ० उदयभानुसिंह) में दी गयी है, वह इस प्रकाशित ग्रन्थ के प्रायः अनुरूप नहीं है। किन्तु जिस रूप में यह प्रस्तुत हुआ है, इसे कन्हैयालाल पोद्दार तथा अर्जुनदास केडिया जैसे पिछली पीढ़ी के अलंकार-निरूपक ग्रन्थों के लगभग समकक्ष उपस्थित किया जा सकता है, इन तीनों में इसका स्थान तीसरा है।

—'रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' नामक प्रबन्ध अपने प्रकार का प्रथम प्रयास होने के कारण उल्लेखनीय है, यद्यपि भावी शोधकर्त्ताओं के लिए

---

१. वस्तुतः इस परम्परा का प्रारम्भ पं० कृष्णशंकर शुक्ल प्रणीत 'केशव की काव्यकला' से समझना चाहिए।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अभी इस विषय पर अत्यधिक कार्य करना शेष है।

—'रीतिकाल की भूमिका' के प्रकाशित होने के बाद सैद्धान्तिक शोध में एक युगान्तर उपस्थित हो गया। विषय-सामग्री का चिन्तनपरक व्यवस्था-पन शोध का एक अनिवार्य तत्त्व है, और इसी तत्त्व से अधिकांशतः समन्वित हिन्दी का प्रथम सैद्धान्तिक शोध-ग्रन्थ 'रीतिकाल की भूमिका' है। यही कारण है कि इसीके ही लेखक द्वारा 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' जैसे अपेक्षा-कृत कहीं अधिक प्रौढ़ एवं चिन्तनपरक ग्रन्थ की रचना के उपरान्त भी उक्त ग्रन्थ काव्यशास्त्र के शोधार्थियों, जिज्ञासुओं एवं विचारकों के लिए अत्यन्त विशिष्ट तथा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, तथा शोध के शैली-तत्त्वों से प्रथम बार अवगत करा देता है।

—'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' अपने नाम के अनुरूप एक इतिहास-ग्रन्थ के प्रायः सभी गुणों से सम्पन्न है। हिन्दी के प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों के ग्रन्थों तथा उनकी काव्यशास्त्र-विषयक धारणाओं एवं मान्यताओं का ऐतिहासिक क्रम से संक्षिप्त एवं स्वच्छ परिचय इस ग्रन्थ की विशेषता है। हिन्दी-रीतिकालीन रीति-परम्परा का भी एक साथ विस्तृत परिचायक प्रथम ग्रन्थ यही है। शिवसिंह सेंगर और यहां तक कि रामचन्द्र शुक्ल के रीति-कालीन प्रसंग इतिहास-ग्रन्थ की दृष्टि से इसकी तुलना में हलके पड़ जाते हैं।

—'हिन्दी साहित्य में अलंकार' नामक ग्रन्थ में अलंकार की दृष्टि से किया गया अध्ययन शोधार्थियों के लिए पर्याप्त उपयोगी है।

—'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' अपने विषय का पाण्डित्यपूर्ण तथा व्यवस्थित प्रबन्ध है। लेखक ध्वनि जैसे गम्भीर काव्यतत्त्व का मर्मज्ञ है, और उसे स्वच्छ एवं ऋजु शैली में प्रतिपादित कर सकने में भी पूर्णतः सक्षम है।

—'हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास' अपने प्रकार का गम्भीर, स्वच्छ एवं विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करता है।

—'हिन्दी में हास्य रस' नामक ग्रंथ हास्यरस के शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि हिन्दी में इस रस के उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से है। वस्तुतः संस्कृत-काव्यशास्त्र में भी हास्य रस का न तो गम्भीर विवेचन है और न उसमें प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गयी है। अतः संस्कृत का कोई उपजीव्य ग्रंथ यदि उस विषय में किंचिद् अंश तक शिथिल रह जाए जिसमें स्वयं संस्कृत-साहित्य शिथिल हो तो ऐसी शिथिलता नगण्य है।

—'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त' में शुक्ल जी के सिद्धान्तों का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्रोत-निर्देश एवं विवेचनात्मक परीक्षण किया गया है। शुक्ल जी जैसे मर्मवेत्ता शास्त्रज्ञ एवं चिन्तक आचार्य की साहित्यशास्त्रीय मान्यताओं के परीक्षण के लिए एक गम्भीर पर्यवेक्षण-शक्ति की आवश्यकता है, निःसन्देह इस ग्रन्थ के लेखक ने इसे प्रायः पूर्ण करने का प्रयास भी किया है, फिर भी शुक्ल जी जैसे आचार्य के गम्भीर सिद्धान्तों पर अभी कई शोध-ग्रन्थ लिखे जाने चाहिएं।

—'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त' में 'भारतेन्दु' से लेकर 'दिनकर' पर्यन्त अनेक कवियों की रचनाओं में साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का सम्यक् विवेचन किया गया है।

—'रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' में रस-विषयक प्रचुर सामग्री और उसका विवेचन एवं अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है।

—'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' में पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा प्रतिपादित काव्यतत्त्वों का स्वच्छ एवं प्रौढ़ प्रतिपादन तथा विवेचन किया गया है।

—विहारी से सम्बद्ध उक्त दोनों प्रबन्ध शास्त्रीय विवेचन एवं प्रतिपादनशैली दोनों दृष्टियों से अति स्वच्छ ग्रन्थ हैं।

—'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' मेरा विनम्र प्रयास है। अतः इसके विषय में मुझे स्वयं कुछ नहीं कहना।

●

इन ग्रंथों के संक्षिप्त दिग्दर्शन के उपरान्त अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उक्त शोध-ग्रन्थ अकेले-अकेले रूप में अथवा एक साथ सभी मिलकर संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का स्वस्थ, स्वच्छ तथा विशद परिचय देने में समर्थ हैं ? इसका उत्तर अभी तक तो 'न' में ही मिलेगा, किन्तु काव्यशास्त्रीय अध्ययन में जो रुचि, जिज्ञासा एवं तत्परता आज का पाठक दिखा रहा है यह इसके उज्ज्वल भविष्य का सूचक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त सैद्धान्तिक शोध-ग्रंथों से इतर कतिपय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ [यद्यपि शोध-ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु वे] इस दिशा में कहीं अधिक उज्ज्वल पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। वर्तमान युग में श्री बलदेव उपाध्याय, डॉ० नगेन्द्र और आचार्य विश्वेश्वर के ग्रंथों का नाम इस दिशा में अत्यन्त गौरव एवं समादर के साथ लिया जाता है।

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सिद्धान्त-पक्ष

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ६ :

वाचक शब्द और उसके प्रकार

शब्दशक्तियों के आधार पर शब्द के तीन रूप स्वीकार किये जाते हैं—वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक। ये तीनों शब्द के रूप हैं, इसके प्रकार अथवा भेद नहीं हैं, क्योंकि एक ही शब्द अपनी शक्ति के अनुसार कभी केवल वाचक कहाता है, कभी वाचक और लक्ष्यक दोनों, और कभी वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक तीनों। यहाँ विवेच्य केवल वाचक शब्द है।

क. वाचक शब्द—

वाचक शब्द का सम्बन्ध अभिधा शक्ति के साथ है। अभिधा शक्ति वाच्य अर्थ का निर्देश करती है। इस शक्ति के द्वारा वाच्य अर्थ को बताने वाला शब्द वाचक कहाता है। मम्मट के कथनानुसार जो साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं—साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। (का० प्र० २।६)। वाचक शब्द के सम्बन्ध में मम्मट-प्रस्तुत शास्त्रीय चर्चा पर आधारित निम्नोक्त तथ्य उल्लेखनीय हैं। इनसे विषय के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी—

(क) प्रत्येक उच्चरित नाद तब तक 'शब्द' (वाचक शब्द) कहाने का अधिकारी नहीं बनता, जब तक वह किसी 'संकेत' का ग्रहण नहीं करता, परिणामतः इस नाद अर्थात् ध्वनि मात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। उदाहरणार्थ—'गृह' शब्द हमारे लिए सार्थक होता हुआ भी भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ किसी विदेशी व्यक्ति के लिए शब्द-विशेष न होकर 'नाद' मात्र है।

(ख) हाँ, जब वह नाद किसी संकेत का ग्रहण करता है तब वह किसी अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है, और तभी वह नाद 'शब्द' कहाने का अधिकारी बनता है।

(ग) जिस शब्द से व्यवधान के बिना जिस अर्थ का संकेत-ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहाता है।[1]

---

१. इहाऽगृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थ-विशेषं प्रतिपादयति इति यस्य यत्राऽव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः। (का० प्र० २।७ वृत्ति)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निष्कर्षतः वाचक वह शब्द कहाता है जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण सदा और एक-समान हो सके। यहाँ 'श्लिष्ट' शब्दों के सम्बन्ध में शंका की जा सकती है कि वे एक-समान अर्थ के वाचक सदा नहीं होते, वे विभिन्न अर्थों के वाचक होते हैं। किन्तु यह शंका ही निर्मूल है। **'एकः शब्दः एकार्थवाचकः', एकः शब्दः सकृद् एकमेवार्थं गमयते'** इस नियम के अनुसार श्लिष्ट शब्द भी प्रसंगानुसार एक समय में केवल एक ही शब्द के वाचक होते हैं—एक साथ दो-दो, तीन-तीन आदि अर्थों के वाचक नहीं होते। अस्तु !

ख. वाचक शब्द के प्रकार—

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने [वाचक] शब्द के चार भेद गिनाये हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा : **चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः** (महाभाष्य २य आह्निक, 'ऋलृक' सूत्र-प्रसंग)। वाचक के चार भेदों का उल्लेख रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी किया है। मम्मट ने तो यही भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु रुद्रट और विश्वनाथ ने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है। अब इन्हीं चारों का स्वरूप प्रस्तुत है। पहले द्रव्य को लेते हैं।

१–द्रव्य

कई आचार्यों के कथनानुसार मूर्त्त पदार्थ को द्रव्य कहते हैं, अर्थात् ये द्रव्य इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं। हमारी इन्द्रियाँ इन द्रव्यों को छू, देख, सुन और सूंघ सकती हैं। इसके विपरीत जाति, गुण और क्रिया ये सभी मूर्त्त नहीं होते, तथा इनका आधार कोई न कोई द्रव्य होता है। प्रत्येक द्रव्य में इनमें से प्रथम दो अथवा तीनों विद्यमान रहते हैं, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि किसी द्रव्य में ये तीनों ही विद्यमान हों। उदाहरणार्थ, पाषाण में पाषाणत्व जाति और श्वेत-रक्त अथवा श्याम वर्ण गुण तो विद्यमान है, पर उसमें कोई क्रिया विद्यमान नहीं है, वह सदा निश्चल रहता है। किन्तु फिर भी इसे द्रव्य ही कहेंगे। इन सभी मूर्तिमान् द्रव्यों में विकार अर्थात् परिवर्तन हो सकता है।

केवल मूर्त पदार्थ ही द्रव्य कहाते हैं—वस्तुतः यह परिभाषा अव्याप्त है। कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो द्रव्य तो हैं पर वे मूर्त नहीं होते, जैसे दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन आदि। इसके अतिरिक्त इनके आकार-प्रकार में किसी तरह का विकार अर्थात् परिवर्तन भी नहीं होता। रुद्रट ने इस ओर संकेत

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भी किया है कि ये ऐसे द्रव्य हैं जो नीरूप और अविक्रिय हैं। किन्तु फिर भी उन्होंने द्रव्य की परिभाषा 'मूर्तिमद् द्रव्यम्' ही प्रस्तुत की है :

जातिक्रियागुणानां पृथगाधारोऽत्र मूर्त्तिमद् द्रव्यम्।
दिक्कालाकाशादि तु नीरूपमविक्रियं भवति॥

—काव्यालंकार ७।२

उन्होंने द्रव्य के अन्तर्गत नित्य-अनित्य, चर-अचर, सचेतन-अचेतन सभी मूर्त्त एवं अमूर्त्त पदार्थों को गिनाया है :

नित्यानित्यचराचरसचेतनाऽचेतनैर्बहुभिः।
भेदैर्विभिन्नमेतद् द्विधा द्विधा भूरिशो भवति॥

—काव्यालंकार ७।३

द्रव्य के ही प्रसंग में 'यदृच्छा' की चर्चा करना भी अपेक्षित है। इस शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—यद् ऋच्छयते—गम्यते (अवगम्यते इति यावत्) इति यदृच्छा, अर्थात् जो स्वतःप्रचलित हो जाए उसे 'यदृच्छा' कहते हैं। महाभाष्यकार ने इसके उदाहरण-स्वरूप 'लृतक, ऋफिड, ऋफिड्ड, लृफिड, लृफिड्ड' शब्दों को, तथा मम्मट ने उन्हीं के अनुकरण में 'डित्थ' शब्द को प्रस्तुत किया है। ये सभी निरर्थक होते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों के ऐसे नामों का संकेत करते हैं जो स्वतः चल पड़े हों। इधर विश्वनाथ इसी प्रसंग में एक पग और आगे बढ़े हैं। उन्होंने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' को ही स्वीकार करते हुए 'डित्थ, डवित्थ' आदि निरर्थक संज्ञाओं के अतिरिक्त 'हरिहर' आदि सार्थक संज्ञाओं को भी 'द्रव्य' के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है—**द्रव्यशब्दाः एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थ-डवित्थादयः।** (सा० द० २य परि०)

इस प्रकार रुद्रट के अनुसार 'द्रव्य' शब्द से अभिप्राय है—एकव्यक्ति-वाची अभिधानों को छोड़ कर शेष सभी मूर्त एवं अमूर्त पदार्थ, और विश्वनाथ के अनुसार इसका अभिप्राय है—एक-व्यक्तिवाची अभिधान चाहे वे निरर्थक हों अथवा सार्थक। किन्तु हमारे विचार में द्रव्य के अन्तर्गत रुद्रट और विश्वनाथ-सम्मत सभी पदार्थ अन्तर्भूत करने चाहिएं—मूर्त और अमूर्त दोनों, और मूर्त द्रव्यों के अन्तर्गत न केवल जातिवाचक गृहीत होने चाहिएं, अपितु व्यक्तिवाचक संज्ञाएं भी, तथा व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अन्तर्गत निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के अभिधानों का ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ—(१) गौ, बालक, पर्वत आदि मूर्त पदार्थ (२) डित्थ, हरिहर, हिमालय आदि मूर्त पदार्थ तथा (३) आकाश, वायु, आत्मा, मन आदि अमूर्त पदार्थ, ये सभी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

द्रव्य हैं। इनमें से प्रथम वर्ग के शब्द जातिवाचक हैं, द्वितीय वर्ग के व्यक्तिवाचक हैं, तथा तृतीय वर्ग के शब्दों को भी व्यक्तिवाचक मानना चाहिए, क्योंकि गौ, बालक आदि के समान ये किसी एक जाति का बोध नहीं कराते, अपितु एक ही पदार्थ का बोध कराते हैं। आकाश अंशी रूप में तो एक है ही, वायु, आत्मा और मन को भी अंशी रूप में एक ही मानना चाहिए।

उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त अब भी कुछ ऐसे शब्द बच रहते हैं जो वक्ष्यमाण गुण, क्रिया और जाति के अन्तर्गत नहीं आते, जैसे—बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य, लावण्य, माधुर्य आदि। द्रव्य को उक्त रूप में मूर्त और अमूर्त पदार्थों का पर्याय मान लेने की स्थिति में इन शब्दों को द्रव्य के अन्तर्गत मानना समुचित नहीं है। ये किसी न किसी भाव के नाम का बोध कराते हैं। अतः इनके लिए या तो एक अलग पाँचवाँ शब्द-प्रकार 'भाव' नाम से मानना पड़ेगा या द्रव्य को 'संज्ञा' का पर्याय मानते हुए द्रव्य की परिभाषा वही करनी होगी जो आधुनिक हिन्दी-व्याकरण-ग्रन्थों में 'संज्ञा' की स्वीकार की जाती है—'जिससे किसी व्यक्ति, जाति अथवा भाव का बोध हो,' और इसी के यही तीन भेद—व्यक्ति, जाति और भाव मानने चाहिएँ। अधिक समुचित यह रहेगा कि द्रव्य अथवा यदृच्छा के स्थान पर 'संज्ञा' नामक शब्द-प्रकार ही स्वीकार कर लिया जाए।

२. गुण

गुण द्रव्य पर अनिवार्यतः आधारित रहता है। इसका द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी गुण से अवश्य सम्पन्न होगा। गुण इन्द्रिय-ग्राह्य है। वह अनुमान का विषय नहीं है। इसके तीन भेद हैं—सहज, आहार्य तथा आवस्थिक। सहज गुण से तात्पर्य है नित्य धर्म। उदाहरणार्थ—अग्नि में उष्णता, कौए में कृष्णता आदि। आहार्य गुण कहते हैं उपलब्ध गुण को, जैसे शास्त्र के अभ्यास से पाण्डित्य अथवा वस्त्र में रंग आदि। जो गुण अवस्थानुसार परिवर्तित हो जाते हैं, उन्हें आवस्थिक गुण कहते हैं, जैसे फलों का लाल रंग, केशों की शुक्लता आदि।[1]

३. क्रिया

क्रिया का अनुमान द्रव्य के विकार से होता है। द्रव्य के विकार से तात्पर्य है पदार्थ की कोई चेष्टा। वही चेष्टा उसी नाम की क्रिया कहाती है।

१. द्रव्यादपृथग्भूतो भवति गुणः सततमिन्द्रियग्राह्यः।
स[illegible] त्रेधा ।। — रुद्रट, काव्यालंकार ७।४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्रिया सदा 'धात्वर्थ' होती है, अर्थात् प्रत्येक क्रिया अपनी धातु के ही मूल अर्थ से सम्बद्ध रहती है।[1] उदाहरणार्थ—पचति, गच्छति, स्वपिति, जागर्ति आदि रूप क्रमशः पच्, गम् स्वप् और जागृ धातुओं के अर्थों से सम्बद्ध हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मम्मट और विश्वनाथ ने क्रिया से तात्पर्य 'पचति, गच्छति' आदि न लेकर 'पाक, गमन' आदि लिया है। यहाँ 'पाक' आदि शब्द समग्र क्रियाकलाप के सूचक हैं : **पूर्वापरीभूताऽवयवः क्रियारूपः** (का० प्र०, २य उ०), अर्थात् प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पाक-सम्बन्धी सभी प्रक्रिया। उदाहरणार्थ, भोजन-विषयक कच्ची सामग्री से पूरित पात्र को आग पर चढ़ाने से लेकर उसे नीचे उतारने तक का नाम पाक है : **अधिश्रयणाऽधःश्रयणपर्यन्तः क्रियाकलापः पाकशब्देनोच्यते** (महाभाष्य)। इनसे पूर्व यास्क ने इसी अर्थ के लिये 'आख्यात' शब्द का प्रयोग किया था।[2] यद्यपि उन्हें 'आख्यात' शब्द से क्रिया के अतिरिक्त गौण रूप से द्रव्य (यदृच्छा शब्द) भी अभीष्ट है, किन्तु क्रिया की प्रधानता रहने के कारण वे आख्यात को ही भावप्रधान मानते हैं। 'भाव' शब्द यहाँ क्रिया का पर्यायवाची है : मम्मट के अनुसार ये दोनों रूप—'पचति' और 'पाक'—क्रिया हैं। यास्क के अनुरूप मम्मट भी क्रिया और भाव को परस्पर पर्यायवाची शब्द मानते हैं। उनका यह मन्तव्य वैयाकरणों द्वारा भी अनुमोदित है—**धात्वर्थो हि क्रिया ज्ञेयो भाव इत्यभिधीयते।** (वाक्यपदीय), अस्तु ! ये दोनों रूप क्रिया अथवा भाव कहाते हैं :

(क) **भावप्रधानमाख्यातम्।**[3]

(ख) **तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः।** (निरुक्त १।१।६,१०)

मम्मट ने भाव के दो प्रकार गिनाये हैं—सिद्धावस्थापन्नाभाव और साध्यावस्थापन्न भाव। पच् धातु से निर्मित 'पाक' शब्द को उन्होंने सिद्धावस्थापन्न भाव कहा है, और 'पचति' को साध्यावस्थापन्न भाव। इधर साध्य

---

१. **नित्यं क्रियानुमेया द्रव्यविकारेण भवति धात्वर्थः।**

—रुद्रट, काव्यालंकार ७।५

२. **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाऽऽचष्टे व्रजति, पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।**

—निरुक्त १।१।११

३. अर्थात्—(क) **आख्यायते प्रधानभावेन क्रिया (भावः), गौणत्वेन द्रव्यं च यत्र तद् आख्यातम्।**

(ख) **वाक्ये ह्याख्यातं प्रधानं तदर्थत्वात्, गुणीभूतं नाम तदर्थस्य भावनिष्पत्तौ अङ्गभूतत्वात्।** (निरुक्त १।१।१०, दुर्गाचार्य व्याख्या)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को उन्होंने गुण अर्थात् विशेषण का पर्याय माना है। मम्मट के अनुसार 'पचति' को इस आधार पर साध्य (गुण) मानना चाहिए कि 'पचति' शब्द स्वयं एक विशेषण है, क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'ति' प्रत्यय पच् धातु का विशेषण है। 'पचति' का अर्थ है एककर्तृक वर्तमानकालिक पाक। इस प्रकार मम्मट आदि के विचार में 'पाक' और 'पचति' आदि दोनों प्रकार के रूप क्रिया (भाव) हैं—एक सिद्ध है और दूसरा साध्य।

किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यद्यपि 'पाक, गमन' आदि शब्दों में क्रिया का—या यों कहिए भाव का—अंश निहित है, तो भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसे क्रिया नहीं कहना चाहिए। इन्हें आधुनिक हिन्दी-व्याकरणों के अनुरूप 'भाव', और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो भाववाचक संज्ञा, कहना चाहिए, तथा 'पचति, गच्छति' आदि रूपों को ही क्रिया नाम से अभिहित करना चाहिए।

शेष रहा 'आख्यात' का प्रश्न। जैसा कि ऊपर लिख आये हैं 'आख्यात' से यास्क के अनुसार दोनों रूप ग्रहण किये जाते हैं—प्रधान रूप से क्रिया, और गौण रूप से द्रव्य (अर्थात् कर्त्ता)। इसका कारण यह है कि 'पचति' कहने से अर्थावबोध तो होता ही है, साथ ही क्रिया की प्रधानता और द्रव्य (कर्त्ता) की गौणता भी लक्षित होती है, किन्तु इसके विपरीत 'रामः' अथवा 'असौ' आदि द्रव्यवाचक (संज्ञा अथवा सर्वनामवाचक) शब्दों के कहने से अर्थावबोध तक नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें क्रिया समाविष्ट नहीं है। इस प्रकार इन दो उदाहरणों के आधार पर कह सकते हैं कि अकेले द्रव्यवाचक शब्दों में अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं होती, जबकि अकेले क्रियावाचक शब्दों में यह क्षमता होती है। इसी आधार पर यह फलित माना जाता है कि 'पचति, गच्छति' आदि शब्दों में क्रिया की प्रधानता माननी चाहिए, और द्रव्य की गौणता। ठीक इसी प्रकार 'पाक, गमन' आदि शब्दों को भी आख्यात कह सकते हैं, क्योंकि इनसे क्रिया की प्रतीति तो होती है, साथ ही 'पकाने वाला, जाने वाला' आदि कर्त्ताओं की ओर भी अनायास ध्यान चला जाता है। अस्तु!

निष्कर्षतः यास्क के अनुसार यद्यपि आख्यात से तात्पर्य है—प्रधान रूप से क्रिया (अथवा भाव) और गौण रूप से द्रव्य, जैसे पचति और पाक। किन्तु फिर भी विषय के सुगम अवबोध के लिए 'पचति' को क्रिया कहना चाहिए और 'पाक' को भाववाचक संज्ञा। यास्क, मम्मट आदि के अनुसार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्रिया और भाव शब्द पर्यायवाची हैं, किन्तु आज इनका प्रचलित अर्थ भिन्न-भिन्न है।

४. जाति

भिन्न क्रिया और गुण वाले [होने के कारण] अनेक प्रकार के शरीर वाले भी बहुत से द्रव्यों में जिस तत्त्व के कारण समान बुद्धि पैदा होती है उसे जाति कहते हैं।[1]

कई बालकों अथवा गौओं अथवा पर्वतों में गुण और अथवा क्रिया के कारण यद्यपि विभिन्नता रहती है, तो भी इनमें एक तत्त्व (तथ्य) समान है, वह है इनकी बालकत्व जाति, गोत्व जाति अथवा पर्वतत्व जाति, जिसके कारण ये इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं। इसी तथ्य को मम्मट ने दूसरे प्रकार से कहा है—'गुण, क्रिया, और यदृच्छा शब्द वस्तुतः होते तो एक हैं, किन्तु आश्रय-भेद से इनमें भेद प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, एक ही मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण, तेल आदि में भिन्न-भिन्न रूप से दिखायी देता है :

गुणक्रियायदृच्छाशब्दानां वस्तुतः एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्। (का०प्र० २।१०, वृ०) और यही तथ्य भर्तृहरि ने अपनी विशिष्ट शैली में निम्न शब्दों में प्रकट किया है, किसी पशु को जो स्वरूप से गौ है यह नहीं कह सकते कि 'वह गौ है,' और न यह कह सकते हैं कि 'वह गौ नहीं है।' फिर भी यदि उसे 'गौ कहते हैं' तो उसमें [संकेतित] गोत्व जाति के ही सम्बन्ध से—**न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः। गोत्वाऽभिसम्बन्धात्तु गौः।** (वाक्यपदीय)।

●

'जाति' के प्रसंग में एक अन्य चर्चा भी विचारणीय है। मम्मट और विश्वनाथ ने कुछ विद्वानों का मन्तव्य उल्लिखित करते हुए कहा है कि वे विद्वान् संकेतित (वाचक) शब्द के उक्त चार भेद—गुण, क्रिया, द्रव्य और जाति—न मानकर केवल एक भेद स्वीकार करते हैं 'जाति'—**संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा** (का० प्र०१।१०)। इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि जाति तो 'जाति' है ही, गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीनों में भी 'जाति' की ही सत्ता विद्यमान है। उदाहरणार्थ—

१. हिम, दुग्ध, शंख आदि का शुक्ल वर्ण (अर्थात् गुण) मूलतः भिन्न

---

(१) **भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।**
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः॥ रुद्रट, काव्यालंकार ७।६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भिन्न है, तो भी ये शुक्ल कहाते हैं, क्योंकि इन सब में 'शुक्लत्व' जाति विद्यमान है।

२. इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि का पाक (अर्थात् क्रिया) यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार का होता है तो भी 'पाकत्व' जाति के ही कारण ये सभी भिन्न विधियाँ 'पाक' कहलाती हैं।

३. अब शब्द के तीसरे भेद द्रव्य को लीजिए। इस प्रसंग में तीन तथ्य अवेक्षणीय हैं :

(क) यदि किसी एक बालक, एक वृद्ध और एक तोते द्वारा उच्चरित किसी व्यक्ति का 'डित्थ' नाम इनके उच्चारणों में भिन्न भिन्न प्रकार का होता है,

(ख) यदि स्वयं डित्थ नामक कोई व्यक्ति क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहने पर भी 'डित्थ' नाम से ही पुकारा जाता है, और

(ग) यदि 'डित्थ' नाम के अनेक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी इसी एक नाम से पुकारे जाते हैं[1]—

—तो इसका एकमात्र कारण 'डित्थत्व' जाति ही है। इसी प्रकार स्वयं जातिवाचक बालक, गौ आदि शब्दों की भी यही स्थिति है। अनेक बालक अथवा गौएं परस्पर भिन्न होते हुए भी यदि बालक, गौ आदि ही कहाते हैं तो इसका कारण भी बालकत्व और गोत्व आदि जाति ही है। अतः संसार भर के सभी संकेतित शब्द केवल 'जाति' नाम से ही पुकारे जाने चाहिएं; द्रव्य, गुण और क्रिया नाम से नहीं।

निस्सन्देह इन तर्कों में सूक्ष्मता है, और इन्हीं पर आधारित उक्त मान्यता नितान्त अस्वीकार भी नहीं की जा सकती, किन्तु फिर भी यह मान्यता व्यावहारिक न होने के कारण मनस्तोषक नहीं है, क्योंकि यदि सभी प्रकार के शब्दों को 'जाति' नाम से पुकारा जाएगा तो फिर वाचक शब्दों का वर्गीकरण करने से क्या लाभ ? तब तो वाचक (संकेतित) शब्द और जाति को पर्यायवाची ही मान लेना चाहिए। किन्तु व्यवहार एवं सुविधा दोनों दृष्टियों से संसार भर के वाचक शब्दों का वर्गीकरण करना अत्यन्त अनिवार्य है, विशेषतः तभी जबकि भारतीय प्रज्ञा इस दिशा में अत्यन्त जागरूक एवं दक्ष है, और इस जागरूकता तथा दक्षता का प्रमाण यह है कि भारतीय आचार्यों ने प्रायः सभी शास्त्रीय प्रसंगों को अनेक भेदों-उपभेदों, रूपों-उपरूपों में वर्गीकृत एवं विभाजित किया है।

उक्त रूप में जाति-सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा प्रस्तुत करने के उपरान्त

१. इस तथ्य को मम्मट ने प्रस्तुत नहीं किया।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एक शंका उत्पन्न होती है कि शब्द-विभाजन-प्रसंग में इस शास्त्रीय 'जाति' की आवश्यकता है भी। यदि 'जाति' से तात्पर्य 'बालकत्व, गोत्व' आदि है तब तो उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपने इसी पारिभाषिक अर्थ के सूचक ये शब्द व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त नहीं होते, और जब इसी प्रकार की शास्त्रीय चर्चाओं में जब ये 'बालकत्व, गोत्व' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं तो वस्तुतः ये 'बालक, गो' आदि द्रव्यों के भाव हैं—भाव से यहां तात्पर्य वही है जो उपर्युक्त 'भाववाचक' संज्ञा के 'भाव' शब्द का है, अर्थात् 'एब्स्ट्रैक्ट'। और यदि 'जाति' से तात्पर्य 'बालक, गो' आदि शब्दों से ही है, तो फिर इनका अन्तर्भाव द्रव्य (अथवा संज्ञा) में किया जाना चाहिए। हमारा विचार है कि जाति नामक शब्द-प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार न किया जाकर इसे द्रव्य (संज्ञा) का ही एक भेद मान लेना चाहिए, क्योंकि पतञ्जलि, मम्मट आदि की 'जाति' वस्तुतः द्रव्य की—'जातिवाचक संज्ञाओं'—की निर्णायक आधार ही हैं, स्वयं कोई स्वतन्त्र शब्द-प्रकार नहीं हैं। अस्तु!

●

इस प्रकार वाचक शब्द के शेष तीन प्रकार स्वीकार कर लेने के उपरान्त 'अव्यय' शब्द बच रहते हैं। हमारा विचार है कि वाचक शब्द के जितने वर्ग (और उनके भेद-उपभेद) बन सकें उनमें इसे विभक्त कर देना चाहिए। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-व्याकरणों के वाचक शब्द के निम्नोक्त छः भेद (और उनके उपभेद) अत्यन्त उपादेय हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण और अव्यय। हाँ, यदि चाहें तो संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण को यास्क के अनुसार पहले केवल 'नाम' भी कह सकते हैं,[1] तथा किन्हीं आधुनिक हिन्दी-व्याकरणकारों के अनुरूप क्रियाविशेषण को अव्यय का एक रूप मान सकते हैं।

★

---

१. सत्त्वप्रधानानि नामानि। (निरुक्त १।१।९)
[लिंगसंख्ययोरत्र सद्भावः इति सत्त्वम्। प्रकृतिः, प्रत्ययः, विभक्तिरिति त्रेधा विभज्जमानम् एतावदेवैतन्नाम।]—दुर्गाचार्यव्याख्या
अर्थात्, लिंग और संख्या तथा विभक्ति ये तीनों एकत्र संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण से सम्बद्ध रहते हैं, क्रिया से नहीं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ७ :

रसाभिव्यक्ति के साधन

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत का प्रख्यात सिद्धान्त-कथन है—
विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। (ना० शा० ६ठ अ० पृष्ठ ७१) अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है।[1] इस कथन से यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता कि उक्त तीनों तत्त्वों के परस्पर-संयोग द्वारा रसाभिव्यक्ति होती है, अथवा इन तीनों के किसी अन्य तत्त्व के साथ संयोग द्वारा। किन्तु इसी प्रसंग में भरत की अपनी व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थायीभाव इन तीनों तत्त्वों के संयोग द्वारा रस रूप को प्राप्त करते हैं: '× × × नानाभावोपहिताः स्थायिनः × × ×।' अतः उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सहृदयों का स्थायिभाव जब विभाव, अनुभाव और संचारिभाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो रस रूप में निष्पन्न (व्यक्त) हो जाता है।[2] दूसरे शब्दों में, विभावादि के संयोग को आपन्न स्थायिभाव का अपर नाम रस है। इस प्रकार रसनिष्पत्ति के तीन साधन हैं—विभाव, अनुभाव और संचारिभाव, और रसाभिव्यक्ति साध्य है। स्वयं स्थायिभाव साधन नहीं है, क्योंकि यही स्वयं रस रूप में अभिव्यक्त, यों कहिए परिणत, होता है।

---

१. भरत के उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'रसनिष्पत्ति' शब्द की अनेक रूपों में व्याख्याएं प्रस्तुत की गयीं। अभिनवगुप्त ने रसनिष्पत्ति का अर्थ 'रसाभिव्यक्ति' किया है। 'अभिव्यक्ति' शब्द में 'व्यक्ति' का अर्थ है व्यन्जना [शब्दशक्ति] द्वारा प्राप्त अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ। अभिनवगुप्त ने रस को व्यंग्यार्थ पर समाश्रित मानते हुए 'रसनिष्पत्ति' का अर्थ 'रसाभिव्यक्ति' माना है।

२. विभावेनऽनुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥ सा०द०३। १
तुलनार्थ—का० प्र० ४। २८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्थायिभाव तथा उक्त तीनों साधनों का स्वरूप इस प्रकार है :

स्थायिभाव—

सहृदय के अन्तःकरण में जो मनोविकार वासना रूप से सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव दवा नहीं सकता उन्हें स्थायिभाव कहते हैं। यही स्थायिभाव ही [रस रूप] आस्वाद का अंकुरकन्द अर्थात् मूलभूत है :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥ सा० द० ३।१७४

स्थायिभावों की संख्या सामान्यतः नौ मानी जाती है—रति, हास शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। कई आचार्य निर्वेद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार स्थायिभाव आठ हैं। ये क्रमशः निम्नोक्त रसों के रूप में निष्पन्न (अथवा अभिव्यक्त) होते हैं—शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनके अतिरिक्त एक अन्य रस वत्सल भी माना जाता है जिसका स्थायिभाव 'वात्सल्य' है।

रस का स्थायिभाव के साथ सम्बन्ध—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि रति आदि स्थायिभाव सहृदय के अन्तःकरण में वासना रूप से सदा विद्यमान रहते हैं, अभिनवगुप्त और उनके अनुयायियों के मत में ये उस प्रकार सदा विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार मिट्टी में गन्ध सदा विद्यमान रहता है। जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व-विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार स्थायिभाव भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से व्यक्त होने पर साहित्यिक भाषा में 'रस' नाम से पुकारे जाते हैं। एक अन्य लौकिक उदाहरण से यह कथन और अधिक स्पष्ट हो जाएगा—जिस प्रकार किसी खट्टे पदार्थ के संयोग से दूध 'दही' के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि के संयोग से स्थायिभाव अपने चर्व्यमाण रूप में परिणत होकर 'रस' नाम से अभिहित होते हैं।[1]

दूसरे शब्दों में, अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित रत्यादि तभी तक स्थायिभाव कहे जाते हैं, जब तक वे विभावादि द्वारा चर्व्यमाण अवस्था तक नहीं पहुँच पाते। इसी अवस्था को पहुँचते ही उनका नाम 'रस' हो जाता है, अब वे स्थायिभाव नहीं कहाते।

स्पष्ट है कि स्थायिभाव तो पूर्वसिद्ध है, पर रस पूर्वसिद्ध नहीं है। अतः स्थायिभावों की रस रूप में अभिव्यक्ति उस प्रकार नहीं मानी जाती, जिस प्रकार अन्धकारस्थ पूर्वविद्यमान घट दीप के प्रकाश के द्वारा घट रूप में प्रकट

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है।[२] अन्धकारस्थ और प्रकाशस्थ दोनों ही घट एक हैं, पर वासना रूप में स्थित स्थायिभाव और चर्व्यमाणावस्थापन्न स्थायिभाव दोनों अलग-अलग हैं। पहले का नाम स्थायिभाव है, और दूसरे का नाम रस।

अब विभावादि तीनों साधनों का स्वरूप प्रस्तुत है :

१. विभाव—

लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति, उत्साह, शोक आदि भावों के उद्बोधक हैं, वे काव्य-नाटकादि में वर्णित होने पर शास्त्रीय शब्दों में विभाव कहाते हैं—'**रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः** (सा०द० ३।२८)। विभाव का अर्थ है कारण विभाव सामाजिक के हृदयस्थित रत्यादि स्थायिभावों को उद्बोधित करते हैं, उनका विभावन करते है, उन्हें आस्वाद-योग्य बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, ये रस को व्यक्त करने के कारण हैं। विभाव के दो भेद हैं—आलम्बनविभाव और उद्दीपनविभाव।

आलम्बनविभाव—काव्य-नाटकादि में वर्णित जिन पात्रों का आलम्बन करके सामाजिक के रत्यादि स्थायिभाव रसरूप में अभिव्यक्त (परिणत) होते हैं, उन्हें आलम्बनविभाव कहते हैं। जैसे शृंगार रस में नायक-नायिका आदि। **आलम्बनो नायिकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्** (सा० द०—३,२९) आलम्बन-विभाव के दो भेद हैं, विषय और आश्रय। विषय को 'आलम्बन' भी कहते हैं। जिस पात्र के प्रति किसी के भाव जाग्रत होते हैं वह आलम्बन कहाता है, और जिस पात्र में किसी के प्रति भाव जाग्रत होते है वह आश्रय कहाता है।[१] उदाहरणार्थ, शकुंतला को देख दुष्यन्त के हृदय में उसके प्रति रतिभाव जाग्रत हो जाने पर शकुन्तला को 'आलम्बन' कहेंगे और दुष्यन्त को आश्रय, तथा ये दोनों पात्र आलम्बन-विभाव कहाते हैं, और यही दोनों सामाजिक के स्थायिभावों को रसावस्था तक पहुंचाने के कारण हैं।

उद्दीपनविभाव—उद्दीपनविभाव वे कहाते हैं जो रस को उद्दीप्त करते हैं : **उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।** (सा० द०, ३,१३१)। ऊपर कहा जा चुका है कि विभावादि के संयोग से रत्यादि स्थायिभाव रस रूप में

१, २. **व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः, न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।** (सा० द० ३।१, वृत्ति)

३. **आद्योऽपि द्विविधः विषयाश्रयभेदाद्। यमुद्दिश्य रत्यादिः प्रवर्तते सोऽस्य विषयः। आश्रयस्तु आधारः।** (साहित्यकौमुदी, पृष्ठ २९)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निष्पन्न होते हैं। अतः विश्वनाथ के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि उद्दीपन विभाव वे कहाते हैं, जो रत्यादि स्थायिभावों को उद्दीप्त करके उनकी आस्वादन-योग्यता बढ़ाते हैं और इस प्रकार उन्हें रसावस्था तक पहुंचाने में सहायक होते हैं।

उद्दीपनविभाव दो प्रकार के माने गये हैं—(१) आलम्बन-गत चेष्टाएं, (२) वाह्य वातावरण—**आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा।** (सा०द० ३.१३२) यहाँ 'आलम्बन' शब्द से आचार्य विश्वनाथ का तात्पर्य आलम्बन-विभाव के दोनों भेदों (आलम्बन और आश्रय) से नहीं है अपितु केवल प्रथम भेद 'आलम्बन' से है। आलम्बन की वे बाह्य चेष्टाएं जो आश्रय के रति आदि स्थायिभावों को जाग्रत करके उन्हें उद्दीप्त करती हैं, वे 'उद्दीपनविभाव' कहाती हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्य इत्यादि भी आश्रय के स्थायिभावों को उद्दीप्त करने के कारण उद्दीपनविभाव कहाते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) शृंगार रस में दुष्यन्त (आश्रय) के रतिभाव को अधिक तीव्र करने वाली शकुन्तला (आलम्बन) की कटाक्ष, भुजा-विक्षेप आदि वाह्य चेष्टाएं, रौद्र रस में परशुराम के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली लक्ष्मण की व्यंग्योक्तियां, भयानक रस में भीत पुरुष को अधिक भयभीत करने वाला सिंह का गर्जन, मुख-विकृति, झपट्टा मारने की क्रियाएं आदि आलम्बन-गत चेष्टाएं उद्दीपन-विभाव कहाती हैं।

(२) शृंगार रस में नदी-तट, पुष्पवाटिका, चांदनीरात इत्यादि, भयानक रस में घना वन, हिंसक पशुओं की आवाजें, आधे मार्ग में ही रात्रि पड़ जाना आदि बाह्य वातावरण है, जो कि आश्रय के स्थायिभावों को उद्दीप्त करता है। अतः यह भी 'उद्दीपनविभाव' कहाता है।

●

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आलम्बनविभाव (नायक, नायिका, प्रतिनायक इत्यादि पात्र) सामाजिक के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव के उद्बोधक कारण हैं, और उद्दीपनविभाव उन उद्बुद्ध भावों को उत्तेजित करते हैं, अभिवृद्ध करते हैं, उन्हें उद्बुद्ध नहीं करते। यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि यदि इन्हें उद्बोधक कारण नहीं मान सकते, तो फिर इन्हें विभाव (कारण) का एक रूप क्यों माना जाता है ? इसका समाधान यह है कि यदि कोई उद्बुद्ध स्थायिभाव ठीक रूप से उत्तेजित न हो, तो वह अनुत्पन्न के ही समान समझा जाता है। वह अंकुर किस काम का, जिसे जल से सींचा न

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जाए। वह मुरझा जाएगा, अतः उसका उद्बुद्ध होना या न होना एक-समान है। शकुन्तला को देख दुष्यन्त के हृदय में रतिभाव उद्बुद्ध हो तो गया, पर यदि उसे शकुन्तला के हाव-भावों तथा बाह्य वातावरण से उत्तेजना न मिली तो वह पनप नहीं सकेगा। अतः वह अनुद्बुद्ध के ही समान माना जाएगा। यही कारण है कि उद्दीपनविभावों को उद्बोधक कारण स्वीकार न करते हुए भी 'विभाव' का एक भेद मान लिया जाता है।

२. अनुभाव

रत्यादि स्थायिभावों को प्रकाशित करने वाली आश्रय की बाह्य चेष्टाएं अनुभाव कहाती हैं।

अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है—**भावमनु अनुभावः**, अर्थात् जो रत्यादि स्थायिभावों के बाद उत्पन्न होते हैं। अथवा—**अनुभावयन्ति इति अनुभावः**, अर्थात् जो उत्पन्न रत्यादि स्थायिभावों का अनुभव कराते हैं। स्पष्टतः आश्रय की बाह्य चेष्टाएं स्थायिभावों के उद्बुद्ध हो जाने के बाद उत्पन्न होती हैं, तथा ये चेष्टाएं उद्बुद्ध स्थायिभावों का अनुभव भी कराती हैं, तभी इन्हें 'अनुभाव' संज्ञा दी गयी है। अतः जो भावों के कार्य हैं, अथवा जिनके द्वारा रत्यादि भावों का अनुभव होता है वे 'अनुभाव' कहाते हैं। जिसे लोक में कार्य कहते हैं, उसे काव्य में अनुभाव कहते हैं।

उदाहरणार्थ—विरह-व्याकुल नायक द्वारा सिसकियां भरना, अपने बाल नोचना, आंखें फाड़े शून्य की ओर ताकना आदि बाह्य चेष्टाएं, जो लोक में कार्य कही जाती हैं, काव्य-नाटक में वर्णित अथवा दर्शित होने पर, अनुभाव कहाती हैं। रति जाग्रत होने पर दुष्यन्त का सानुराग अवलोकन, अंगसंचालन, भ्रूविक्षेप इत्यादि, क्रोध जाग्रत होने पर परशुराम का कठोर शब्दोच्चारण, परशु उठाना, आँखें रक्त हो जाना इत्यादि, ये सभी आश्रयगत बाह्य चेष्टाएं अनुभाव कहाती हैं। स्पष्ट है कि ये चेष्टाएं दुष्यन्त अथवा परशुराम में क्रमशः रति तथा क्रोध स्थायिभावों के उद्बुद्ध होने के बाद उत्पन्न हुई हैं, अथवा इन्हीं चेष्टाओं से हम अनुभव कर पाते हैं कि उक्त दोनों आश्रयों में क्रमशः रति तथा क्रोध जाग्रत हो गये हैं, अतः ये अनुभाव कहाती हैं। विश्वनाथ ने अनुभाव का निम्नोक्त लक्षण प्रस्तुत किया है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥

सा० द० ३।१३२, १३३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् अपने-अपने कारणों (आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों) से हृदय में जाग्रत रत्यादि भावों को वाह्यतः प्रकाशित करने वाला कार्य 'अनुभाव' कहाता है।

अनुभाव के चार रूप माने गये हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक ।

—आंगिक से तात्पर्य है शरीर-सम्बन्धी चेष्टाएं।

—वाग्व्यापार को वाचिक अनुभाव कहते हैं।

—वेशभूषा, अलंकरण, साज-सज्जा आदि का नाम आहार्य अनुभाव है।

—सत्त्व के योग से उत्पन्न कायिक चेष्टाएं सात्त्विक अनुभाव कहाती हैं।[1] इन्हें सात्त्विक भाव भी कहते हैं। सत्त्व कहते हैं रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट मन को, ऐसे मन में उत्पन्न विकारों से स्वतःप्रादुर्भूत कायिक प्रतिक्रिया को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं। ये आठ माने गये हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय,।[2]

अनुभाव के उक्त चार रूपों में से प्रथम तीन अनुभाव 'यत्नज' कहाते हैं, क्योंकि नाटक में तो इनके निर्वहण में आश्रय को चेष्टा करनी पड़ती है, और काव्य में ये शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं, किन्तु सात्त्विक अनुभाव अयत्नज कहाते हैं, क्योंकि आश्रय को इनके लिए कोई वाह्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती। उक्त स्तम्भ आदि सत्त्व (मन) से स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं, अतः आश्रय यदि चाहे कि इन्हें प्रादुर्भूत न होने दे, अथवा प्रादुर्भूत होने पर इन्हें रोक ले तो वह ऐसा नहीं कर सकता।

इसी प्रसंग में शंका उपस्थित होती है कि क्या प्रथम तीन अनुभाव—आंगिक, वाचिक और आहार्य सत्त्व के योग से उत्पन्न नहीं होते। इसका उत्तर है—हाँ, नहीं होते। क्योंकि स्तम्भ, विवर्णता आदि सात्त्विक भावों के लिए

---

१. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। तद्योगात् प्रभवन्तीति सात्त्विकाः।

२. स्तम्भ और प्रलय दोनों स्थितियों में आश्रय चेष्टाशून्य हो जाता है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि स्तम्भ की स्थिति में उसे चेष्टा न कर सकने का ज्ञान रहता है और प्रलय कि स्थिति में उसे यह ज्ञान नहीं रहता। उदाहरणार्थ, स्तम्भ का यह रूप देखिए—

देखि सीय सौम्य सुख पावा।
हृदय सराहत बचन न आवा॥ तुलसी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तो सत्त्व (मन की समाहिति) अनिवार्य है, किन्तु आंगिक आदि तीनों अनुभावों का निर्वहण अन्यमनस्क होते हुए भी सम्भव है।

●

अनुभाव का प्रसंग समाप्त करने से पूर्व एक शंका का निवारण कर लेना आवश्यक है। क्या केवल आश्रय की बाह्य चेष्टाओं को अनुभाव की संज्ञा देनी चाहिए, अथवा आश्रय और आलम्बन दोनों की? इसका उत्तर है कि केवल आश्रय की। आश्रय में आलम्बन के प्रति भाव उत्पन्न होता है। पर यह आवश्यक नहीं कि एक पात्र सदा ही आश्रय बना रहे और दूसरा सदा ही आलम्बन। अगले ही क्षण उनकी स्थिति बदल सकती है। भावों का पारस्परिक आदान-प्रदान होता ही है। शकुन्तला और उसके उद्दीपक हाव-भावों को देख दुष्यन्त में रति जाग्रत हुई और उससे भ्रूविक्षेप हो गया। शास्त्रीय दृष्टि से दुष्यन्त आश्रय कहाया, और शकुन्तला आलम्बन। शकुन्तला की बाह्य चेष्टाएं उद्दीपक कहाईं और दुष्यन्त की अनुभाव। यदि अगले ही क्षण दुष्यन्त के भ्रूविक्षेप से शकुन्तला में दुष्यन्त के प्रति रति जाग्रत हुई जैसा कि अस्वाभाविक नहीं है तो उसका 'अक्षि-निःकोच' आदि शकुन्तला को आश्रय की संज्ञा दिलायेगा और दुष्यन्त को आलम्बन की। दुष्यन्त के जिस 'भ्रूविक्षेप' को अनुभाव कहा गया था, अब उसके उद्दीपक होने, अतएव आलम्बन-गत बाह्य चेष्टा बन जाने के कारण उसे उद्दीपनविभाव कहा जाएगा और शकुन्तला का 'अक्षि-निःकोच' अनुभाव। इसी प्रकार 'शतपत्रपत्रभेदन-न्याय' से क्षण-क्षण में वे दोनों एक दूसरे के प्रति आलम्बन और आश्रय बनते जाएंगे, और दोनों की बाह्य चेष्टाएं उसी क्षण में क्रमशः 'उद्दीपनविभाव' तथा 'अनुभाव' नाम से पुकारी जाएँगी। अतः केवल आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ ही 'अनुभाव, कहाएंगी, भले ही वह अगले ही क्षण दूसरे पात्र को उद्दीप्त करने के कारण 'उद्दीपन-विभाव' कही जाएँ। हां, जो बाह्य चेष्टाएँ किसी कारणवश दूसरे व्यक्ति को उद्दीप्त नहीं करतीं, वे निस्सन्देह केवल 'अनुभाव' कहाएँगी, उन्हें अगले क्षण 'उद्दीपनविभाव' की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

३. संचारिभाव : (व्यभिचारिभाव)

अस्थिर मनोविकार अथवा चित्तवृत्तियां 'संचारिभाव' कहाती हैं, ये विकार आश्रय और आलम्बन के मन में उन्मग्न और निर्मग्न होते रहते हैं।

संचारी शब्द का अर्थ है साथ-साथ चलना तथा संचरणशील होना।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संचारिभाव स्थायिभावों के सहकारी कारण हैं, उन्हें रसावस्था तक ले चलते हैं, पर स्वयं बीच में जलतरङ्गवत् आविर्भूत तथा तिरोभूत होते रहते हैं।[1]

संचारिभाव मनोविकार हैं, ये शरीर के धर्म नहीं हैं। यद्यपि मनोविकारों की कोई संख्या नियत नहीं की जा सकती, तथापि सुविधा के लिए संचारिभावों की संख्या ३३ निर्धारित की गयी है—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

किन्तु संचारिभावों की यह ३३ संख्या कम से कम संख्या की ही द्योतक है, संचारिभाव तो अनन्त हो सकते हैं।[2] स्वयं इन ३३ संचारिभावों के पारस्परिक मिश्रण से ही यह संख्या सहस्रों तक पहुँच सकती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि संचारिभावों को 'व्यभिचारिभाव' भी कहते हैं, क्योंकि ये प्रत्येक स्थायिभाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख हो कर —उसके अनुकूल (सहायक) बन कर—चलते हैं।[3] प्रत्येक स्थायिभाव का रस नियत है, पर प्रत्येक संचारिभाव का स्थायिभाव नियत नहीं है। एक संचारिभाव कई स्थायिभावों के साथ अभिमुख होकर चलता है, अतः वह 'व्यभिचारिभाव' भी कहाता है।

●

इसी प्रसंग में यह जानना आवश्वयक है कि संचारिभाव और स्थायिभाव में परस्पर क्या अन्तर है। ये दोनों ही हृदय में रहते हैं, पर इन दोनों में अन्तर यह है कि उधर रत्यादि भाव तो स्थायी रूप से हृदय में जाग्रत होते हैं, तथा वे किसी विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भाव से दबते नहीं हैं, रसनिष्पत्ति-पर्यन्त स्थिर बने रहते हैं, किन्तु उपर्युक्त संचारिभाव अन्त तक स्थिर नहीं रहते, उद्बुद्ध होते और मिटते रहते हैं, इसी कारण ये संचारी कहाते हैं। यदि स्थायिभाव भी उत्पन्न हो कर मिट जाएं तो इन्हें भी संचारिभाव माना जाता है। सम्राट् की महान् पदवी से च्युत होकर ये भी सामान्य राजा की गणना में आ जाएंगे।

स्थायिभाव एक तो उस स्थिति में संचारिभाव कहाते हैं जब वे थोड़े

---

१. स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः × × ×। सा०द० ३।१४०

२. त्रयस्त्रिंशदिति न्यूनसंख्याया व्यवच्छेदकं न त्वधिकसंख्यायाः।

३. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः। सा०द० ३।१४०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् अशक्त विभावों से उत्पन्न हों।[1] उदाहरणार्थ—कामायनी के 'संघर्ष' सर्ग में मनु और प्रजा के बीच होने वाले युद्ध की 'विभावादि' सामग्री उत्साह को प्रकट करने में अशक्त है, क्योंकि मनु अथवा प्रजा का एक दूसरे को विनष्ट करने का लक्ष्य धर्मरक्षा, राष्ट्ररक्षा आदि जैसा महान् नहीं है, प्रत्युत प्रतिहिंसा है। मनु तेजस्वी तथा धीर न होकर दुर्बल रूप में वर्णित किये गये हैं, तथा विवेक भी खो बैठे हैं, अतः सम्पूर्ण सामग्री उत्साह को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। यहां मनु और प्रजा का 'उत्साह' संचारिभाव कहाएगा, स्थायिभाव नहीं।

स्थायिभावों को संचारिभाव कहने की एक दूसरी स्थिति भी है जब वे अपने अनियत रसों में प्रयुक्त होने पर उस रस की सहायता करते हैं।[2] वस्तुतः अन्य रसों के सहायक बन जाने के कारण स्थायिभावों में वह आस्वाद्य-योग्यता नहीं रह पाती जो उनके अपने आधार-भूत रस में रहती है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस का सहकारी बन जाने पर 'हास' स्थायिभाव न कहा जाकर संचारिभाव कहाएगा। इसी प्रकार महाकाव्यों तथा नाटकों में एक प्रधान रस—अंगीभूत रस—के सहकारी जितने अन्य तथाकथित 'रस'—अंगभूत रस—वर्णित रहते हैं, उन सबके स्थायिभाव 'संचारिभाव' कहे जाएंगे।

अन्ततः, संचारिभाव के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या आश्रय के हृदय में स्थित इन भावों को संचारिभाव कहा जाता है, अथवा आलम्बन के। इसका उत्तर यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से तो दोनों के हृदयस्थ भावों को संचारिभाव कहा जाता है, किन्तु यदि इनके नाम अलग-अलग होते, यो सचारिभाव के दो रूप ही गिनाये जाते—आलम्बनगत और आश्रयगत, तो विषय का सुगमाववोध हो जाता। इन दो रूपों की स्वीकृति में आलम्बनगत संचारिभाव उद्दीपनविभाव से सम्बद्ध माने जाते, और आश्रयगत संचारिभाव अनुभाव से। अस्तु!

रस का विभावादि के साथ सम्बन्ध—

इस प्रकार स्थायिभाव तथा विभावादि तीन साधनों के स्वरूप-निर्देश के उपरान्त रस और विभावादि के पारस्परिक सम्वन्ध पर प्रकाश डालना सुगम हो गया है। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त तथ्य अवलोकनीय हैं :

---

१. रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः त एव व्यभिचारिणः ।। संगीतरत्नाकर

२. रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः। सा० द० ३। १७२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy - Kathmandu Collection

१. लौकिक कारण, कार्य और सहकारिकारणों को काव्य-नाटक के अन्तर्गत क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि ये व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़कर 'साधारणीकरण' व्यापार द्वारा साधारण अर्थात् सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक रूप धारण कर लेते हैं।[1]

२. रस की प्रतीति तभी तक रहती है, जब तक विभावादि की प्रतीति रहती है। दूसरे शब्दों में, विभावादि और रस की प्रतीति में कारण-कार्य रूप पूर्वापरसम्बन्ध नहीं है, अपितु दोनों प्रतीतियों का एकत्र और समकालीन अवस्थान है। अतः काव्यशास्त्र की भाषा में रस को 'समूहालम्बनात्मक' माना गया है।[2]

३. रसास्वादन-प्रक्रिया में यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव खण्डशः एक-एक करके प्रतीत होते हैं (यह अलग प्रश्न है कि उनकी यह खण्डशः प्रतीति अति त्वरित होने के कारण लक्षित नहीं होती); पर रस-प्रतीति में ये तीनों अखण्ड एवं संश्लिष्ट रूप में ही सहायक होते हैं, तभी रस को भी अखण्ड माना गया है,[3] और यही कारण है कि रसचर्वणा में विभावादि में से किसी एक की सर्वाधिक अथवा सर्वातिच्छादक रूप में प्रतीति नहीं मानी गयी—'प्रपानकरस-न्याय' से इन तीनों की संश्लिष्ट, अतएव विचित्र एवं अवर्णनीय प्रतीति हो रही होती है।[4]

४. इसके अतिरिक्त रस-प्रतीति में विभावादि समान रूप से सहायक होते हैं। यही कारण है कि किसी रचना में विभावादि में से केवल किसी एक का वर्णन होने पर भी शेष दो भावों की समान रूप से आक्षेप द्वारा स्वतःप्रतीति होने पर ही रसचर्वणा सम्भव है, अन्यथा नहीं।[5] उदाहरणार्थ :

तीनों साधनों की विद्यमानता—

प्रीतम दृग मिहचत प्रिया, पानि परस सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेकु न होति जनाइ॥ —बिहारी

---

१. का० प्र० पृष्ठ ६१-६३

२. यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः। तस्मान्न कार्यः।
—सा० द० ३।२१

३. विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो, यान्त्यखण्डताम्॥ सा०द० ३।२८ (वृत्ति)

४. सा० द० ३।१६

५. (क) यद्यपि विभावानामनुभावानां × × × व्यभिचारिणां केवलानाम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस पद्य में प्रीतम और प्रिया आलम्बनविभाव (क्रमशः आलम्बन और आश्रय) हैं। आंखें मींचना अनुभाव है। स्पर्श द्वारा सुख (हर्ष, मद, मोह, आवेग आदि) की प्राप्ति संचारिभाव है। सहृदय के चित्त में वासना रूप से स्थित रति नामक स्थायिभाव इन तीनों का संयोग पाकर शृंगार रूप में अभिव्यक्त होता है।

विभाव और अनुभाव की विद्यमानता—

बतरस लालच लाल की, मुरली लई लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ ॥—बिहारी

यहाँ लाल (कृष्ण) विभाव (आलम्बनविभाव) है। मुरली छिपाना, सौंह करना, भौंहों में हंसना, वापस देने के लिए कहना और फिर इनकार कर देना—ये सभी अनुभाव हैं। चपलता, मद, मोह, औत्सुक्य, उग्रता आदि संचारिभाव यहां वर्णित नहीं हैं, वे यहां आक्षिप्त हैं। गोपिका (आश्रय) भी आक्षिप्त है।

मुख्यतः उद्दीपनविभाव की विद्यमानता—

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
मानो किया प्रणय-सम्बन्ध था ॥—पन्त

इस पद्य की प्रथम दो पंक्तियों में दृग-पलक का ऊपर उठना और नीचे गिरना ये उद्दीपनविभाव है [क्योंकि ये आलम्बनगत बाह्य चेष्टाएं हैं]। शेष सभी साधनों का आक्षेप द्वारा स्वतःग्रहण हो जाने के कारण रसाभिव्यक्ति सम्भव है।

केवल अनुभाव की विद्यमानता—

भौंहनु त्रासति मुँह नटति, आँखनि सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इँची, आगे आवति जाति ॥—बिहारी

इस पद्य में भौंहों में त्रास दिखाना आदि केवल अनुभाव वर्णित है।

अत्र स्थितिः, तथाप्येतेषामसाधारणत्वम् इत्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ॥ का० प्र०, पृष्ठ ९८

(ख) सद्भावश्चेद् विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ॥ सा० द० ३।१७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शेष दो (विभाव और अनुभाव) का बोध आक्षेप द्वारा होने पर ही रसाभिव्यक्ति सम्भव है। अस्तु !

किन्तु कुछ ऐसे स्थल भी होते हैं जिनमें किसी एक साधन के वर्णित होने पर शेष का आक्षेप स्वतः नहीं हो पाता—यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम पढ़ने-सुनने में आते हैं। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्त का यह पद्य लीजिए जिसमें केवल [आहार्य] अनुभाव का वर्णन है—

सखा साथ में वेणु हाथ में ग्रीवा में वनमाला।
केकि किरीट पीत पट शोभित रजरूपित लटवाला।।

निष्कर्ष यह कि—

लौकिक कारणादि काव्य-नाटक में व्यंजना वृत्ति के बल पर विभावादि नामों से अभिहित होते हैं। ये विभावादि सहृदय के स्थायिभावों को जब चर्व्यमाण स्थिति तक पहुँचा देते हैं, तो इन्हें 'रस' नाम से पुकारा जाता है।[1]

●

इस प्रकार रसाभिव्यक्ति के तीन साधनों (विभाव, अनुभाव और संचारिभाव) के स्वरूप-ज्ञान के उपरान्त अब भरत-सूत्र के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टि से विचार कर लेना अपेक्षित है। सहृदय का स्थायिभाव जब विभावादि का संयोग प्राप्त करता है तो रस रूप में निष्पन्न (परिणत, अभिव्यक्त) होता है, इस कथन के सम्बन्ध में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि विभावादि से तात्पर्य काव्य अथवा नाटक में वर्णित अथवा दर्शित विभावादि से लिया जाए तो प्रत्येक सहृदय को समान काव्यानन्द की प्राप्ति होनी चाहिए, क्योंकि इन्हें सभी सहृदय समान रूप से ही पढ़ते अथवा देखते हैं, किन्तु ऐसा होता नहीं हैं, इसका कारण क्या है ?

---

१. यहां यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि विभावादि के संयोग द्वारा निष्पत्ति तो चर्वणा की होती है; पर 'चर्वणा' को ही 'रस' का अपर पर्याय मान लेने पर विभावादि के संयोग द्वारा रस की भी निष्पत्ति गौण रूप से मान ली जाती है—चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् (का० प्र०, ९४), और यही कारण है कि विभावादि और चर्वणा में कारणकार्य-सम्बन्ध की स्वतः-सिद्ध स्वीकृति के साथ-साथ विभावादि और रस में भी कारणकार्य-सम्बन्ध की गौण रूप से स्वीकृति कर ली जाती है, पर वस्तुतः विभावादि और रस में 'समूहालम्बनात्मक' रूप सम्बन्ध होने के कारण विभावादि को 'कारण' और रस को 'कार्य' नहीं माना जा सकता। (सा० द० ३।२१)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि प्रत्येक सहृदय का मानसिक स्तर एक दूसरे से भिन्न होता है, क्योंकि प्रत्येक सहृदय के जन्मजात संस्कारों तथा इस लोक की वातावरण-जन्य परिस्थितियों में अन्तर रहता है, और मानसिक स्तर का यही तारतम्य ही समान रूप से काव्यानन्द की अप्राप्ति का उत्तरदायी है। निःसन्देह यह उत्तर उक्त शंका के समाधान का मूल कारण है कि इससे प्रत्येक सहृदय के लिए काव्यनाटक-गत विभावादि में भी अन्तर पड़ जाने के कारण उक्त स्थिति सम्भव हो सकती है।

किन्तु इस प्रक्रिया की स्वीकृति में एक अन्य शंका उत्पन्न होती है कि काव्यनाटक-गत विभावादि में अन्तर पड़ जाने की सम्भावना क्योंकर स्वीकार कर ली जाए, विशेषतः तभी जब वे स्थूल रूप में, अतएव सबके लिए एक समानरूप में, ही वर्णित एवं दर्शित रहते हैं? निःसन्देह यह शंका निमूल नहीं है, और विभावादि की उक्त स्थिति में इसका उत्तर दे सकना असम्भव है। किन्तु उपर्युक्त प्रक्रिया घटित अवश्य होती है—क्या इसका कोई अन्य कारण भी सम्भव है? हमारे विचार में इसका कारण यह है कि काव्य-नाटक-गत विभावादि प्रत्येक सहृदय के मानसिक धरातल के तारतम्य के अनुसार उनके हृदयों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिबिम्बित होते हैं और अब इन्हीं के साथ संयोग पाकर सहृदय का स्थायिभाव रस रूप में परिणत हो जाता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो भरत के सूत्र में **विभावादि से वस्तुतः अभिप्रेत है सहृदय के हृदय में प्रतिबिम्बित विभावादि, न कि काव्य-नाटक-गत विभावादि**, और यही विभिन्न रूपों में प्रतिविम्बित विभावादि ही उपर्युक्त मूल शंका का समाधान उपस्थित कर देते हैं कि इन्हीं के कारण प्रत्येक सहृदय को एक समान काव्यानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1]

★

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए : 'साधारणीकरण की व्याख्यागाथा' नामक निबन्ध का अन्तिम भाग।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ८ :

रस का स्वरूप

रस के भरत-प्रस्तुत प्रख्यात लक्षण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद रसनिष्पत्तिः' के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह उनसे पूर्व भी प्रचलित था अथवा नहीं, और यदि प्रचलित था तो इसे मान्यता मिली थी अथवा नहीं; किन्तु भरत के समय के उपरान्त इसे ही मान्यता मिलती रही और अभिनवगुप्त-पर्यन्त इस लक्षण की विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत होती रहीं। रस का स्वरूप क्या है, इस पर भी आचार्यों ने, विशेषतः अभिनवगुप्त ने, प्रकाश डाला और उन्हीं की मान्यताओं एवं धारणाओं को परवर्ती संग्रहकर्त्ता आचार्यों—मम्मट, विश्वनाथ आदि—ने अपने रूप में ढाल लिया। इन सब आचार्यों में से विश्वनाथ का यह प्रसंग संग्रह और व्यवस्था दोनों दृष्टियों से अवेक्षणीय है।

विश्वनाथ के शब्दों में रस (१) अखण्ड, (२) स्वप्रकाश, (३) आनन्दमय, (४) चिन्मय, (५) वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, (६) ब्रह्मास्वादसहोदर और (७) लोकोत्तरचमत्कारप्राण होता है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी उल्लिखित किया है कि—

(क) प्रमाता अर्थात् सहृदय द्वारा रस तभी आस्वादित किया जाता है जब उसके सत्त्व गुण का उद्रेक होता है।

'सत्त्वोद्रेक' शब्द व्याख्यापेक्ष है। सात्त्विक मन उस मन को कहते हैं जो रजः और तमः से अस्पृष्ट हो—**रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते।** मन शब्द यहाँ लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त है, इसका लक्ष्यार्थ है मनोवृत्ति, मन का धर्म, अथवा मन का गुण। सत्त्व के उद्रेक से तात्पर्य है उक्त दोनों विकारोत्पादक गुणों से भिन्न एक अन्य गुण का विस्फुरण जो विकार का सूचक न होकर उदात्त भावना का सूचक हो। इसी आधार पर सत्त्वोद्रेक की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि मन की उस स्थिति को सत्त्वोद्रेक कहते हैं जिसमें सत्त्व गुण शेष दो गुणों, रजोगुण और तमोगुण से, अस्पृष्ट हो, अर्थात् ये दोनों रहें अवश्य, किन्तु सत्त्व का स्पर्श न कर सकें। अतः शास्त्रीय शब्दावलि में सत्त्वोद्रेक की स्थिति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वह है जिसमें रजोगुण और तमोगुण तिरोभूत हो जाएं और सत्त्वगुण आवि-र्भूत हो जाए। प्रमाता रस का आस्वादन इसी स्थिति में ही कर पाता है।

यहीं एक शंका उत्पन्न होती है कि मानव-मन की क्या कभी ऐसी स्थिति भी सम्भव है जब वह रजोगुण और तमोगुण से नितान्त अस्पृष्ट होकर केवल सत्त्व गुण से संयुक्त हो? इसका उत्तर है—हाँ, ऐसी स्थिति स्वीकार की जाती है किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में, ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था में। काव्य-रसास्वाद के क्षेत्र में सत्त्व के उद्रेक का तात्पर्य लेना चाहिए सत्त्व गुण की रजोगुण और तमोगुण पर आच्छादकता, अर्थात् ये दोनों नितान्त विनष्ट नहीं होते, अपितु सत्त्वगुण द्वारा दब जाते हैं।

(ख) रस 'अपने आकार से अभिन्न रूप में' आस्वादित किया जाता है, अर्थात् रस जिस रूप में आस्वादित होता है, उससे इतर यह और किसी प्रकार की अनुभूति नहीं है। इस कथन की व्याख्या में कह सकते हैं कि सहृदय की निजी अनुभूति ही रस का रूप धारण कर लेती है, अर्थात् रस के आस्वा-दन-प्रसंग में एक सहृदय की अनुभूति में किसी अन्य सहृदय की अनुभूति न तो सहायक बनती है और न उसे किसी रूप में प्रभावित ही कर सकती है।

विश्वनाथ का कथन इस प्रकार है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः॥ सा०द० ३। २-३

अब रस के स्वरूप-सूचक उक्त तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत है:

—**रस अखण्ड है।** इसका तात्पर्य यह कि रस उस स्थायिभाव का अपर नाम है जिसका संयोग विभाव, अनुभाव और संचारिभाव इन तीनों के समन्वित रूप के साथ हो, न कि इनमें से किसी एक अथवा दो के साथ। वस्तुतः इन सबके 'समूहालम्बनात्मक ज्ञान' को ही रस कहते हैं, क्योंकि रस रत्यादि और विभावादि के ज्ञान से नितान्त अभिन्न होता है। इसी आधार पर कहा जाता है कि रस यद्यपि अपने अंशों से निर्मित है, किन्तु उसके किसी एक अंश अथवा एकाधिक अंशों को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः इसे अखण्ड माना जाता है। उदाहरणार्थ, न तो शैव्या और न रोहिताश्व का 'मृत' शरीर करुण रस है, न शैव्या का विलाप करुण रस है, न शैव्या के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मन में उत्पन्न विषाद, निर्वेद, शंका, मोह, व्याधि आदि संचारिभाव करुण रस हैं, और न सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित शोक नामक स्थायिभाव ही करुण रस है, अपितु इन सब के अखण्ड रूप—'प्रपानकरस-न्याय' से अखण्ड रूप—का नाम रस है।

—रस स्वप्रकाश है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिखाने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार रस भी स्वयं प्रकाशित होता है, इसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। संभवतः इसी कारण इसे **'अपने आकार से अभिन्न'** भी कहा जा सकता है।

—रस चिन्मय है। चित् अथवा चिति का अर्थ है चेतनता अथवा संविद् (ज्ञान)। अतः 'रस चिन्मय है' का अर्थ है कि रस चिद्रूप, अथवा चितिरूप, अथवा संविद्रूप (ज्ञानरूप) अर्थात् चेतनता-रूप है।[1] यहां यह स्मरणीय है कि वेदान्तियों के अनुसार केवल आत्मा 'चित्' [अर्थात् शुद्ध चेतन] है, अतः रस को 'चित्' न कह कर 'चिन्मय' कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'रस' आत्मा के समान शुद्ध चेतन न होकर चेतनता-प्रधान है, अर्थात् रस-स्थिति में अचेतनता का अंश—अत्यल्प मात्रा में सही—अवश्य विद्यमान रहता है।[2]

इस प्रसंग में चेतनता-प्रधानता से यह तात्पर्य ले सकते हैं कि रस आत्मा के समान [शुद्ध चेतन न सही, किन्तु] सचेतन अथवा प्राणवान् आनन्द है—'वह निद्रा, मद्यपान आदि से जन्य भौतिक आनन्दों के समान जड़ आनन्द नहीं है।' (डॉ० नगेन्द्र)

—रसवेद्यान्तरस्पर्शशून्य है। इसका तात्पर्य यह है कि रस के आस्वाद के समय अन्य किसी प्रकार के वेद्य अर्थात् ज्ञान का स्पर्श तक नहीं हो पाता। इस समय किसी सांसारिक घटना अथवा विचार के स्मरण आने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, यहां तक कि काव्य अथवा नाटक के न तो किसी विशिष्ट

---

१. 'चिन्मय' में मयट् प्रत्यय है। यह प्रत्यय दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—प्राचुर्य (संयुक्तता) अर्थ में तथा स्वरूप अर्थ में। यहां यह स्वरूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. लगभग यही स्थिति 'सत्त्वोद्रेक' शब्द की व्याख्या में भी निर्दिष्ट की जा चुकी है कि रसास्वाद के समय सत्त्व की प्रधानता रहती है, और रजोगुण और तमोगुण नितान्त विनष्ट नहीं होते, वे अत्यल्प मात्रा में अवश्य बने रहते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्थल अथवा दृश्य की ओर हमारा ध्यान रहता है, और न उसके किसी विशिष्ट संवाद, संगीत अथवा अभिनय एवं निर्देशन की ओर। इतना ही क्यों हम यह भी भूले होते हैं कि हम नाट्यगृह में बैठे हैं अथवा अन्यत्र, वस्तुतः हम अपना अस्तित्व तक भूल जाते हैं।

—**रस ब्रह्मास्वादसहोदर है,** अर्थात् रस द्वारा सहृदय लगभग उतना आस्वाद प्राप्त करता है जितना कोई साधक योगी ब्रह्म-प्राप्ति द्वारा। यहां रस (काव्यास्वाद) को ब्रह्मास्वाद न कह कर उसका 'सहोदर' कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है। वह अन्तर यह है कि ब्रह्मास्वाद की प्राप्ति के समय योगी ऐन्द्रिय विकारों से नितान्त विमुक्त होता है, इधर काव्यास्वाद के समय भी सहृदय ऐन्द्रिय विकारों से विमुक्त होता है, किन्तु तत्काल के लिए। वस्तुतः यह विमुक्ति उक्त आध्यात्मिक स्थिति की विमुक्ति से कम कोटि की है। इसका प्रमाण यह है कि काव्यास्वाद की मुक्ति के उपरान्त लौकिक विकारों को ओर प्रवृत्ति की सम्भावना सदा बनी रहती है, जबकि उधर ब्रह्मास्वाद-प्राप्ति में इस सम्भावना की आशंका तक नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में, इधर काव्यास्वाद-प्राप्ति के समय मानव के रति आदि भावों की परिष्कृति तो हो जाती है, पर उनका विनाश नहीं होता, वे तत्काल के लिए दब अवश्य जाते हैं, पर सामान्य स्थिति आने पर पुनः अपने रूप में, और प्रायः पहले की अपेक्षा अधिक उद्दाम रूप में, जाग्रत हो उठते हैं। उधर इसके विपरीत ब्रह्मास्वाद-प्राप्ति के समय ये इतने विनष्ट हो जाते हैं कि पुनः अंकुरित नहीं होते। इसका कारण, जैसे कि ऊपर कह आये हैं, ब्रह्मास्वाद के पक्ष में योगी के सत्त्वगुण की आविर्भूति उसके रजोगुण और तमोगुण को नितान्त विनष्ट कर देती है, किन्तु इधर काव्यास्वाद के पक्ष में सहृदय का सत्त्वगुण शेष दोनों गुणों को नितान्त विनष्ट नहीं कर देता, ये किसी न किसी अंश तक अवश्य बने रहते हैं।

—**रस लोकोत्तरचमत्कारप्राण तथा आनन्दमय है।** रस का प्राण है—लोकोत्तर चमत्कार। 'चमत्कार' का अर्थ विश्वनाथ के अनुसार है विस्मय अर्थात् चित्त का विस्तार (विकास),[1] और स्पष्ट शब्दों में कहें तो चमत्कार चित्त का विकासजनक आह्लाद है। रस का प्राण यही आनन्द है, किन्तु वह लोकोत्तर होना चाहिए। इस प्रकार 'रस लोकोत्तरचमत्कार-प्राण' का समग्ररूप में अर्थ हुआ कि रस लोकोत्तर एवं चित्तविकास-जनक आनन्द से युक्त होता है।

---

१. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। सा० द० ३।३ (वृत्ति)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चित्तविकासजनक ग्रानन्द तो मानव को ग्रन्य लौकिक घटनाग्रों में भी उपलब्ध है, किन्तु काव्यजन्य यह ग्रानन्द लोकोत्तर होता है। [इस लोकोत्तर का ग्रपर पर्याय 'ग्रलौकिक' शब्द भी माना जाता है।[1] किन्तु ग्रलौकिक शब्द का प्रयोग इस ग्रर्थ में लाक्षणिक रूप में होता है। 'ग्रलौकिक' का वाच्यार्थ है इहलोक से इतर ग्रन्य लोक का—ग्राध्यात्मिक लोक का, किन्तु लोकोत्तर का वाच्यार्थ है इहलोक में उत्तर, ग्रर्थात् सर्वाधिक, सर्वातिशायी, सर्वोपरि। ग्रस्तु !]

'रसलोकोत्तर-ग्राह्लादवान् है' इसका ग्रर्थ है कि रस का ग्राह्लाद है तो इहलौकिक, पर वह इस लोक के ग्रन्य ग्राह्लादों से सर्वोपरि है। उदाहरणार्थ—'स्वादिष्ट भोजन, पेय ग्रादि से जन्य ग्रानन्द की ग्रपेक्षा, शतरंज की चालों, गणित के प्रश्नों, निर्माण्य-भवनों के नक्शों, राजनैतिक दांव-पेचों की तन्मयता से प्राप्त ग्रानन्द की ग्रपेक्षा रस-ज़न्य ग्रानन्द[2] कहीं ग्रधिक बढ़-चढ़ कर है, यद्यपि है यह भी लौकिक ग्रानन्द ही। इसका प्रमाण यह है कि 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता' नामक तत्त्व न केवल रस के लिए ग्रपितु उपर्युक्त सभी लौकिक ग्राह्लादों के लिए भी ग्रनिवार्यतः ग्रपेक्षित है।' (डॉ० नगेन्द्र)

●

रस (काव्यानन्द) की स्थिति पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि इसकी स्थिति एक ग्रोर [काव्यानन्द से इतर] लौकिक भावनाग्रों से उत्पन्न सुख एवं दुःख, ग्रौर दूसरी ग्रोर ग्राध्यात्मिक क्षेत्र के ग्रानन्द के बीच की है। लौकिक भावनाग्रों से मानव को सुख भी मिलता है ग्रौर दुःख भी, इधर रस का ग्रानन्द यद्यपि होता तो लौकिक ही है, पर वह केवल सुखात्मक होता है[3], किन्तु यह सुख सामान्य कोटि का न होकर उत्कृष्ट कोटि का होता है, ग्रतः इसे लोकोत्तर ग्रानन्द कहते हैं। उधर ग्राध्यात्मिक क्षेत्र का ग्रानन्द इन दोनों प्रकार के ग्रानन्दों से विभिन्न होता है। केवल इसे ही ग्रलौकिक कहा जा सकता है।

---

१. ग्रलौकिक चमत्कारी × × × रसः। का० प्र० ४।२६ पद्य की वृत्ति

[रस की लोकोत्तरता ग्रथवा 'ग्रलौकिकता' ग्रथवा 'ब्रह्मास्वाद-सहोदरता' के सम्बन्ध में काव्याचार्यों के ग्रनेक तर्क ग्रवेक्षणीय हैं। देखिए—'भारतीय काव्यांग' में रस नामक ग्रध्याय।]

२. इसी 'ग्रानन्द' शब्द के ग्रन्य पर्यायवाची शब्द हैं—ग्रास्वाद, ग्राह्लाद, चमत्कार ग्रादि।

३. लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते।
—सा० द० ३।७ (वृत्ति)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन तीन प्रकार के आनन्दों के पारस्परिक वैषम्य का कारण यह है कि रसेतर लौकिक आनन्द में मानव के रजोगुण और तमोगुण आविर्भूत रहते हैं, सत्त्वगुण तिरोभूत रहता है। 'तिरोभूत' शब्द का तात्पर्य नितान्त विनष्ट होना नहीं है—दब जाना है। अर्थात् सत्त्व गुण अब भी शेष बना रहता है। इधर रस की स्थिति में उक्त रूप परिवर्तित हो जाता है—सत्त्व गुण आविर्भूत होता है,[1] और शेष दो तिरोभूत हो जाते हैं—पर बने अवश्य रहते हैं। क्योंकि इन दोनों प्रकार के आनन्दों में ये सभी गुण किसी न किसी मात्रा में बने रहते हैं, अतः ये लौकिक आनन्द हैं, किन्तु उधर आध्यात्मिक क्षेत्र में केवल सत्त्वगुण ही शेष रहता है, शेष दोनों विनष्ट हो जाते हैं, अतः यह अलौकिक है, तथा उक्त दोनों लौकिक आनन्दों से भिन्न प्रकार का है।

निष्कर्षतः—

१. रस एक लौकिक आनन्द (आस्वाद) है।[2]
२. रस का आनन्द अन्य प्रकार के लौकिक आनन्दों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का है। अतः इसे 'लोकोत्तर' आनन्द कहते हैं। इसे अलौकिक आनन्द भी कह देते हैं। पर यहां 'अलौकिक' शब्द लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है।
३. आध्यात्मिक आनन्द अलौकिक आनन्द है, किन्तु रस लौकिक आनन्द है, अतः इसे 'ब्रह्मास्वाद' न कहकर 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा गया है।
४. रस (काव्यानन्द) की स्थिति निम्नोक्त आनन्दों के बीच की है—एक ओर लौकिक क्षेत्र में [रसेतर] लौकिक आनन्दों की अपेक्षा यह उत्कृष्ट कोटि का है, और दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्मप्राप्ति के आनन्द की अपेक्षा यह हीन कोटि का है।

*

१. यहां 'सत्त्व' से तात्पर्य 'विषय-विकार से नितान्त विमुक्ति' नहीं है। यह तात्पर्य केवल आध्यात्मिक अथवा धार्मिक क्षेत्र में ही लिया जाता है, काव्य-शास्त्र में नहीं।

२. 'रसस्य आस्वादः' ऐसे प्रयोगों में 'रसस्य' का तात्पर्य है 'रस-विषयकः'।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ६ :

साधारणीकरण की व्याख्यागाथा

रसनिष्पत्ति के प्रसंग में 'साधारणीकरण' शब्द अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। भरत मुनि के प्रख्यात सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस-निष्पत्ति:' के प्रसिद्ध चार व्याख्याताओं—लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त—में से सर्वप्रथम भट्ट नायक ने इस शब्द का प्रयोग करते हुए इस तत्त्व की भित्ति पर रसनिष्पत्ति की व्याख्या की, और अभिनवगुप्त ने भी इसे स्वीकार किया। इनके उपरान्त धनञ्जय, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने इस तत्त्व पर विशिष्ट प्रकाश डाला। इधर वर्तमान युग में हिन्दी-काव्य-शास्त्र में इसकी बहुविध व्याख्याएं हुईं, जिनमें से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र की व्याख्याएं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यशास्त्र के अध्येता के लिए यह व्याख्यागाथा अत्यन्त रोचक है।

●

भरतसूत्र के प्रथम दो व्याख्याताओं—भट्ट लोल्लट और शंकुक—की व्याख्याओं पर जो आक्षेप किये गये उनमें से स्पष्टत: अथवा प्रकारान्तर से किया गया एक आक्षेप यह भी था कि सहृदय दूसरों के (मूल नायक-नायिका आदि, कविनिर्मित पात्रों, अथवा नर-नारी आदि के) भावों से रसास्वाद किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, विशेषत: उस स्थिति में जबकि उनमें से किसी एक अथवा कुछ-एक अथवा सबके प्रति वे किसी प्रकार का पूर्व आग्रह—श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, घृणा आदि में से कोई भाव—रखते हों? इसी समस्या के समाधान के लिए भट्ट नायक ने 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' समुपस्थित किया। 'अभिनव-भारती' में उपलब्ध उनके वक्तव्य में साधारणीकरण के स्वरूप के अतिरिक्त यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि साधारणीकरण किसका होता है तथा रसास्वाद में यह किस स्थिति में रह कर सहायक बनता है? उनके कथनानुसार—

'काव्य और नाटक में [शब्द के पहले व्यापार] 'अभिधा-व्यापार' (मुख्यार्थ-बोध) के उपरान्त [शब्द के दूसरे व्यापार] 'भावकत्व व्यापार' के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारिभाव का साधारणीकरण हो जाता है। परिणाम-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वरूप सामाजिक के अपने समस्त मोह, संकट आदि से जन्य अज्ञान का निवारण हो जाता है, तथा इसके द्वारा रस भाव्यमान होता है,'[1] अर्थात् शब्द के तीसरे 'भोग' नामक व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।

भट्ट नायक का उक्त वक्तव्य निस्सन्देह जितना सुबोध एवं संक्षिप्त है, उतना ही वह गम्भीर एवं व्याख्यापेक्ष है। अभिनवगुप्त ने इसकी सर्वप्रथम व्याख्या प्रस्तुत की—

'वाक्यार्थ-ज्ञान के उपरान्त 'साधारणीकरण' नामक व्यापार द्वारा सहृदय को कुछ इस प्रकार की मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है कि इसके द्वारा काव्य अथवा नटादि-सामग्री (दृश्य काव्य) में वर्णित देश, काल, प्रमाता (लौकिक अथवा कविनिर्मित व्यक्ति) आदि की विषय-सीमा विनष्ट हो जाती है, अर्थात् ये हर प्रकार के नियामक कारण के वन्धनों से नितान्त विमुक्त हो जाते हैं—और वस्तुतः यही साधारणीकरण का परिपोष है।

उदाहरणार्थ—भयानक रस के निदर्शन 'ग्रीवाभंगाभिरामम् × × ×'[2] में त्रस्त मृग, त्रासक दुष्यन्त, और भय स्थायिभाव ये सव देश, काल आदि से अनालिंगित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में सहृदय को जिस भयानक रस की प्रतीति होती है वह इस प्रकार के विश्वासों से विलक्षण होती है कि 'मैं भीत हूं,' अथवा 'यह भीत है,' अथवा 'शत्रु, मित्र अथवा उदासीन भीत है,' तथा यह प्रतीति दुःख, सुख आदि से जन्य ज्ञान-विषयक नियमों से और अनेक प्रकार के विघ्नों से भी विलक्षण होती है। इस प्रकार यह साधारण्य (साधारण व्यापार) परिमित न रहकर सर्वत्र व्याप्त अर्थात् सबका साँझा वन जाता है।'[3]

अभिनवगुप्त के कथन का सार सरल शब्दों में इस प्रकार है :

साधारणीकरण द्वारा कविनिर्मित पात्र व्यक्ति-विशेष न रहकर सामान्य प्राणिमात्र बन जाते हैं, अर्थात् वे किसी देश एवं काल की सीमा में बद्ध न रह

---

१. [काव्ये × × × नाट्ये च × × ×] निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा, विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेन अंशेन, भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः।

—हिन्दी-अभिनवभारती, पृष्ठ ४६४–४६५

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । १/७

३. तस्य (सहृदयस्य) च 'ग्रीवाभंगाभिराम × × × इत्यादि वाक्येभ्यो

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

कर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक बन जाते हैं, और उनके इस स्थिति में उपस्थित हो जाने पर सहृदय भी अपने पूर्वाग्रहों से विमुक्त हो जाता है।

अभिनवगुप्त के उपरान्त धनञ्जय ने 'साधारणीकरण' तत्त्व पर प्रकारान्तर से प्रकाश डाला।[1] उन्होंने रस का आश्रय अर्थात् उपभोक्ता अथवा आस्वादयिता सामाजिक को स्वीकार करते हुए यह शंका उठायी कि 'सामाजिक का विभाव अर्थात् आलम्बन कौन होता है? यदि अनुकार्य—वास्तविक राम, सीता आदि— को ही आलम्बन मान लिया जाए तो सामाजिक का इसके साथ अविरोध क्योंकर रह सकता है?' दूसरे शब्दों में, सामाजिक पूर्वसंस्कार-वश उस अनुकार्य और इस कवि-निर्मित पात्र में अभिन्नता कैसे स्वीकार कर लेता है? वह इन दोनों को भिन्न क्यों नहीं मान लेता।[2]

इस शंका का समाधान करते हुए वे लिखते हैं कि '[काव्य में वर्णित] राम आदि [वास्तविक राम आदि न होकर] धीरोदात्त आदि [नायकों] की अवस्थाओं के प्रतिपादक होते हैं। ये [काव्यगत] राम आदि सामाजिक के रति आदि स्थायिभावों को विभावित करते हैं अर्थात् उन्हें रसास्वाद का कारण बनाते हैं। ये स्थायिभाव सामाजिक द्वारा [रस रूप में] आस्वादित किये जाते

वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्यकालादि-विभागा तावत् प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष-रूपत्वाभावाद् भीत इति, त्रासकस्य अपारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्य-नालिंगितम्, ततः एव 'भीतोऽहं, भीतोऽयं, शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादि प्रत्ययेभ्यः दुःखसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं ×× भयानको रसः। × × × ततः एव न परिमितमेव साधारण्यम् अपितु न विततम्। × × × तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलाद् अत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।

—हिन्दी अभिनवभारती पृ०४७०-४७१।

१. 'प्रकारान्तर से' इसलिए कि उन्होंने साधारणीकरण शब्द का प्रयोग न कर 'परित्यक्त-विशेष' का प्रयोग किया है।

२. (क) रसः स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात्।

(ख) ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः? कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेन अविरोधः? —दशरूपक ४।४० (प्रसंगारम्भ)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हैं। क्योंकि यही [काव्यगत राम आदि पात्रोंकी धीरोदात्त आदि से सम्बद्ध] अवस्थाएं ही विशेषभाव को छोड़कर सामाजिक के लिए रस का कारण बनती हैं।'[1]

धनञ्जय के इस प्रसंग में रसास्वाद तक पहुंचने के लिए दो सोपान हैं। पहला सोपान है—काव्यगत रामादि पात्र धीरोदात्त आदि नायकों की अवस्था के द्योतक होते हैं—'धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।' इसका तात्पर्य यह है कि अनुकार्य चाहे वास्तव में कैसा भी क्यों न हो, काव्य-नाटकों में वह कवि की परिकल्पना के अनुसार धीरोदात्त आदि में से किसी एक अवस्था का द्योतन करेगा, अपनी मूल अवस्था का नहीं।

धनञ्जय के वृत्तिकार धनिक ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'कविगण योगी तो नहीं होते कि वे ज्ञान-चक्षुओं द्वारा राम आदि की वैसी ही वास्तविक अवस्था का चित्रण कर सकें जैसी कि इतिहास आदि में पायी जाती है। ये तो राम आदि की धीरोदात्त आदि नायकों के गुणों से सम्पन्न ऐसी अवस्था का निबन्धन करते हैं जैसी उन्हें स्वयं लोक में उपलब्ध होती है। पर हाँ, वे उसमें अपनी कल्पना का समावेश अवश्य कर देते हैं।'[2]

दूसरा सोपान है—'जब इन अवस्थाओं का विशेष-भाव छूट जाता है, तब ये सामाजिक के रसास्वाद का कारण बनती हैं—**ता एव च परित्यक्त-विशेषा रसहेतवः।**' इसका तात्पर्य यह है कि जब काव्यगत पात्र अपने विशेष व्यक्तित्व को—रामत्व, सीतात्व आदि को छोड़कर सामान्य मानव-मात्र बन जाते हैं, तब ये सहृदय के रसास्वाद का कारण बन सकते हैं—अन्यथा नहीं। अब राम और सीता ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं रहते, वे साधारण नर और नारी मात्र रह जाते हैं—**तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्त-जनकतनयादि विशेषाः स्त्री-मात्रवाचिनः**, और वस्तुतः यही भट्ट नायक का साधारणीकरण है।

---

१. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते॥
ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।—द० रू० ४।४०,४१

२. नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृत-सन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः विदधति।
—दशरूपक ४।४० वृत्तिः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

तात्पर्य यह कि—

काव्य-पठन अथवा नाटक-दर्शन के समय सामाजिक के सम्मुख ऐतिहासिक व्यक्ति के स्थान पर कविनिर्मित पात्र ही रहते हैं। इनके प्रति सामाजिक का पूर्व संस्कारवश किसी भी प्रकार का विशिष्ट भाव—पूज्य बुद्धि आदि भाव—लुप्त हो जाता है, इस दृष्टि से अब उसे रस प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं रहती। निस्सन्देह यह स्थिति किसी काव्य में वर्णित पात्र पर ही घटित हो सकती है, इतिहास, अथवा पुराण के किसी व्यक्ति-विशेष पर घटित नहीं हो सकती।

इस प्रकार हमने देखा कि धनञ्जय और धनिक ने अपने उक्त विवेचन में भट्टनायक और अभिनवगुप्त के ही आधार पर [काव्यास्वाद] की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भी उसमें 'कवि-तत्त्व' को स्पष्ट शब्दों में सम्मिलित किया है। निस्सन्देह यह तत्त्व इनसे पूर्ववर्ती दोनों मर्मवेत्ता आचार्यों को भी स्वीकृत रहा होगा, पर उन्होंने इसका स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया था, धनञ्जय और धनिक ने इस व्याख्यागाथा में इस शृंखला को जोड़कर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

●

धनञ्जय के उपरान्त इस दिशा में उल्लेखनीय आचार्य विश्वनाथ हैं। पहले, उन्होंने 'साधारणीकरण' की आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए कहा कि '[काव्य-नाटक आदि में वर्णित एवं दर्शित] राम आदि के रति आदि भाव [सामाजिक के रति आदि भावों के] उद्बोधक कारण कहाते हैं, किन्तु इनसे सामाजिकों के रति आदि का उद्बोध होता कैसे है ?'[1] इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा:

—व्यापारोऽस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणी कृतिः, तत्प्रभावेण, अर्थात् विभाव आदि (विभाव, अनुभाव और संचारिभाव) के व्यापार का नाम साधारणीकरण है, उसके प्रभाव से। 'विभावादि का व्यापार' शब्द से यहां अभिप्रेत है—समग्र क्रियाकलाप का सम्मिश्रित रूप [total impact]।

—इसी प्रभाव के कारण सहृदय समुद्र को भी कूद जाने वाले हनुमान् के साथ अभेद—अथवा साधारण अभिमान अर्थात् समानभाव—प्राप्त कर लेने

---

१. ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सामाजिकरत्याद्युद्बोधः।

—सा० द० ३।९ वृत्ति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के कारण अपने-आपको भी वैसा ही समझने लगता है, तथा समुद्र-लंघन जैसे कठिन कृत्यों में [मानसिक रूप से] उत्साहित हो जाता है।[1] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य और नाटक में वर्णित ये रति आदि भाव [एक ओर काव्य-नाटक के राम आदि पात्रों और दूसरी ओर दर्शकों के] साधारण बन जाते हैं, अर्थात् सहृदय को उन्हीं भावों की ही प्रतीति होती है जिनकी राम आदि को—साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते। ये भाव न तो केवल सहृदयों के होते हैं और न केवल राम आदि के, क्योंकि 'यदि ये सहृदय के अपने (लौकिक-भाव) मान लिये जाएं तो इस स्थिति में लज्जा, भय आदि अन्य भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं, और यदि केवल राम आदि दूसरे व्यक्तियों के मान लिये जाएं तो यह विषय अरसनीय है—क्योंकि लोक में दूसरों के भावों का देखना रस का विषय नहीं बनता।[2] अतः ये भाव दोनों के साधारण ही होते हैं। यही कारण है कि 'रसास्वाद के समय इस प्रकार की विशेषसम्बद्धता स्थापित नहीं की जा सकती कि विभाव आदि किसी दूसरे के हैं, अथवा किसी दूसरे के नहीं है, मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं।'[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वनाथ ने अधिकाँशतः अभिनवगुप्त का ही मन्तव्य अति स्पष्ट एवं स्वच्छ रूप में प्रस्तुत किया है। उनके वक्तव्य का सार इस प्रकार है—

(क) काव्य-नाटक-गत विभाव आदि तीनों का व्यापार अर्थात् सम्मिश्रित क्रिया-कलाप साधारणरूप ग्रहण कर लेता है, अर्थात् समस्त घटना-चक्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाता है।

(ख) इसका परिणाम यह होता है कि हनुमान आदि पात्र और सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है, अर्थात् दोनों के रति आदि भाव

---

१. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः॥
तत्प्रभावेण, यस्याऽऽसन् पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मनं प्रतिपद्यते॥
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याऽभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति॥
—सा० द० ३। ९–११

२. रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडाऽऽतंकादिर्भवेत्। परगतत्वेन तु अरस्यतापातः। —सा० द० ३। १२ वृत्ति।

३. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।—सा०द० ३। १२, १३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एक समान हो जाते हैं, दूसरे शब्दों में, सहृदय पात्रों के ही रति आदि भावों के ग्रहण कर लेने के कारण उन्हीं के अनुरूप [मानसिक रूप में] आचरण करने लगता है।

(ग) और यही स्थिति रसास्वाद की भूमिका है।

●

विश्वनाथ के उपरान्त जगन्नाथ ने नव्य आचार्यों के नाम से एक मत उद्धृत किया, जिसके अनुसार—

—काव्य और नाटक में कवि और नट द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के प्रकाशित होने पर सामाजिक व्यञ्जना-व्यापार द्वारा यह स्वीकृत कर लेता है कि दुष्यन्त में शकुन्तला के प्रति रतिभाव है।

—इसके उपरान्त [सामाजिक में] सहृदयता के कारण एक विशेष भावना उत्पन्न होती है जो कि वस्तुतः एक दोष है, जिस के प्रभाव-स्वरूप सामाजिक की आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् वह अज्ञान से अवच्छिन्न (संयुक्त) हो जाती है, और तभी उसमें साक्षिभास्य शकुन्तला आदि के विषय में अनिर्वचनीय रति आदि चित्तवृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं [अर्थात् हमें शकुन्तला आदि के प्रति इस प्रकार के रति आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं जो व्यवहार की दृष्टि से बिलकुल झूठे होते हैं], और इन्हीं रत्यादि का नाम ही रस है। यह सब इसी दोष के ही कारण होता है, इसके अभाव में रस का भी नाश हो जाता है।

—यह दोष ऐसा है जैसा कि सीपी के टुकड़े को देख कर चांदी के टुकड़े का भ्रम होता है।[1]

जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत नव्य आचार्यों के इस मत में और भट्ट नायक के मत में मुख्यतः दो प्रकार का अन्तर है—(क) ये व्यञ्जना को स्वीकार करते हैं, किन्तु भट्ट नायक इसे स्वीकार नहीं करते।[2] (ख) ये 'दोष' अर्थात् भावना-

---

१. नव्यास्तु—काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायाम् अनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पाद्यमानो ऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः। अयं च कार्यो दोषविशेषस्य। नाश्यश्च तन्नाशस्य। —रसगंगाधर, १ म आनन, पृ० ३०।३१

२. ध्वनिवादी आचार्य व्यन्जना को स्वीकार करते भी हैं तो इस रूप

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विशेष (अथवा आत्मा की अज्ञानावच्छिन्नता) को मानते हैं, किन्तु भट्ट नायक इसे भी नहीं मानते। किन्तु फिर भी यदि इनके मत को साधारणीकरण-प्रसंग में उद्धृत किया जा रहा है तो केवल इसलिए कि इस मत के अनुसार मुख्य मान्यता यह है कि :

इस दोष-विशेष द्वारा सामाजिक का आलम्बन (शकुन्तला) के प्रति वैसा भाव उत्पन्न हो जाता है जैसा आश्रय (दुष्यन्त) का। जैसा कि हम देख आये हैं इनसे पूर्व साधारणीकरण के ही प्रसंग में विश्वनाथ ने भी हनुमान् और समुद्रोल्लंघन के सम्बन्ध में सामाजिक की इसी प्रतिक्रिया की ही चर्चा की थी। अस्तु !

इस प्रकार हमने देखा कि भट्ट नायक से लेकर जगन्नाथ द्वारा उद्धृत इन नव्य आचार्यों पर्यन्त 'साधारणीकरण' की व्याख्या तो होती चली गयी है, किन्तु उसकी मूल धारणा में विशेष अन्तर नहीं पड़ा कि—असाधारणस्य साधारणीकरणम् इति साधारणीकरणम्', अर्थात् विभावादि पर आधारित किसी विशेष समग्र क्रिया-कलाप का साधारण (सामान्य) रूप ग्रहण कर लेना।

●

इधर हिन्दी के आधुनिक आलोचकों ने भी 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की है, जिनमें से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ने इस सम्बन्ध में नवीन मान्यताएं एवं व्याख्याएं उपस्थित की हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल के मन्तव्य उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है[1] :—

—साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के

में नहीं कि सामाजिक इसके द्वारा यह जान लेता है कि दुष्यन्त में शकुन्तला के प्रति रतिभाव है, अपितु इस रूप में कि रत्यादि स्थायिभाव व्यञ्जना द्वारा रस रूप में परिणत होते हैं, तभी इनके मत में रस की अभिव्यक्ति मानी जाती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों की प्रक्रिया में भी अन्तर है। नव्य आचार्य व्यंजना-व्यापार को पहले स्वीकार करते हैं और ध्वनिवादी आचार्य अन्ततः। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादी 'दोष' को मानते ही नहीं।

१. चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २२७-२३२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

—जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है,पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्तिविशेष ही उपस्थित रहता है।

—साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। [पाठक या श्रोता की कल्पना में] व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।

—रस की एक नीची अवस्था और है। × × × श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यञ्जना पात्र[1] अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र[2] के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रसदशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। × × × इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

—जहां पाठक या दर्शक × × × आश्रय के शीलद्रष्टा के रूप में स्थित होता है, वहां × × × उस पात्र (आश्रय) का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र (आश्रय) ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।

उक्त सभी कथनों को लक्ष्य में रखकर निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' को सुगम रूप में प्रस्तुत करने के लिए इसके दो पक्ष (प्रभाग, विभाग, खण्ड—जो कुछ भी कहें) कर दिये हैं—(क) सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है, (ख) आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, और इन दोनों व्यापारों का एक ही शास्त्रीय नाम है 'साधारणीकरण' : तादात्म्य + साधारणीकरण = साधारणीकरण। किन्तु यदि आचार्य शुक्ल इस दूसरे कथन में 'साधारणीकरण' शब्द के स्थान पर 'सामान्यीकरण' अथवा इसी के समानान्तर किसी अन्य

१,२ यहां दोनों स्थलों पर 'पात्र' से तात्पर्य है—आश्रय।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द का प्रयोग करते तो विषय-बोध कहीं अधिक व्यवस्थित वन जाता। तब स्थिति इस प्रकार रहती—तादात्म्य + सामान्यीकरण = साधारणीकरण।

यहां 'आलम्बन' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य निस्सन्देह आलम्बनत्व धर्म से है, अर्थात् राम (आश्रय) और सीता (आलम्बन) के प्रणय-सम्बन्ध में सीता रूप आलम्बन का साधारणीकरण (सामान्यीकरण) नहीं होता, अपितु सीतात्व का —नायिका-भाव अथवा प्रेमिका-भाव का होता है। यदि उन्हें यही स्थिति मान्य है जो कि सर्वथा शास्त्रीय एवं तर्कसंगत है तो आश्रय से भी उनका तात्पर्य आश्रयत्व धर्म लेना चाहिए, अर्थात् आश्रयभूत राम से तात्पर्य राम नहीं अपितु रामत्व, नायक-भाव एवं प्रेमीभाव है। काव्य और नाटक पढ़ते अथवा देखते समय प्रत्येक पाठक एवं श्रोता को राम और सीता अपने वास्तविक रूप में भी प्रतीत होते रहते हैं-—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, किन्तु यह स्थिति हर समय नहीं रहती, वे उपर्युक्त रामत्व और सीतात्व के रूप में भी प्रतीत होते रहते हैं। पर हाँ, ये दोनों प्रतीतियाँ भिन्न-भिन्न क्षणों में होती हैं, एक क्षण में दोनों प्रतीतियाँ सम्भव नहीं हैं। यह अलग प्रश्न है कि इन दोनों क्षणों में काल का अन्तर इतना अत्यल्प होता है कि हमें इसका भान नहीं होने पाता, किन्तु यह अन्तर रहता अवश्य है। अब इन दोनों क्षणों की स्थिति के सम्बन्ध में विचार किया जाय। सहृदय के लिए जिस क्षण राम और सीता अपने वास्तविक रूप में रहते हैं, उस क्षण सहृदय को ठीक उसी प्रकार लौकिक रति आदि भावों की अनुभूति होती रहती है जैसी कि लोक में उन्हें सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के रति-व्यवहार को देखकर होती है, भले ही वे प्रेक्षागृह में भी क्यों न बैठे हों। किन्तु जिस क्षण ये दोनों रामत्व और सीतात्व (एक प्रेमी और प्रेमिका) के रूप में आ उपस्थित होते हैं उसी क्षण रामत्व के साथ सहृदय का तादात्म्य (समानभाव) हो जाता है और सीतात्व का साधारणीकरण (सामान्यीकरण) हो जाता है, और इन दोनों के समन्वित (न कि सम्मिश्रित) रूप का नाम परम्परागत 'साधारणीकरण' है। अस्तु! आचार्य शुक्ल के 'आलम्बन' शब्द से तात्पर्य यदि आलम्बनत्व धर्म लिया जाता है तो 'आश्रय' से तात्पर्य आश्रयत्व धर्म लेना चाहिए, क्योंकि तादात्म्य आश्रय से सम्भव नहीं है, आश्रयत्व धर्म से ही सम्भव है।

निष्कर्षतः उनके मत में सहृदय का आश्रयत्व धर्म के साथ तादात्म्य होता है, परिणामतः आलम्बनत्व धर्म का सामान्यीकरण होता है, और इन दोनों का नाम 'साधारणीकरण' है। निस्सन्देह ये दोनों व्यापार अपने समन्वित

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रूप में मान्य हैं। किन्तु वस्तुतः केवल इन दोनों के इस रूप का नाम साधारणीकरण नहीं है। इसके अन्तर्गत कतिपय अन्य व्यापार भी सम्मिलित हैं, जिन पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है।

आचार्य शुक्ल ने इसी प्रसंग में उपर्युक्त एक अन्य स्थिति का भी उल्लेख किया है, जिसके आधार पर सहृदय का आश्रय (आश्रयत्व धर्म) के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, और न ही आलम्बन का साधारणीकरण (सामान्यीकरण) हो पाता है। उदाहरणार्थ, सीता (आलम्बन) को उठाये जा रहे रावण (आश्रय) के साथ सहृदय का तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता, परिणाम-स्वरूप सीता के प्रति रावण का रतिभाव भी साधारणीकृत नहीं होता, अर्थात् सीता सहृदय की प्रेयसी नहीं बन सकती। इसी प्रकार रावण द्वारा राम की भर्त्सना करने के प्रसंग में सहृदय का रावण के साथ तादात्म्य नहीं हो पाता, और परिणामतः राम के प्रति भर्त्सनाभाव साधारणीकृत नहीं होता, अर्थात् सहृदय के मन में राम के प्रति ऐसा भाव नहीं जगता। किन्तु फिर भी काव्य-नाटक में वर्णित ऐसे स्थल आह्लादजनक होते हैं। आचार्य शुक्ल के मत में यह रसात्मकता की मध्यमावस्था है।

डॉ० नगेन्द्र—

डॉ० नगेन्द्र ने मूलतः आचार्य शुक्ल की उक्त अन्तिम धारणा—रसात्मकता की मध्यमकोटि—को लक्ष्य में रखकर साधारणीकरण के प्रसंग में अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की कि साधारणीकरण न तो आश्रय (राम) का होता है, न आलम्बन (सीता) का होता है, अपितु यह कवि की अनुभूति का होता है। और इसके परिणाम-स्वरूप, उनके कथनानुसार, आश्रय रूप रावण द्वारा राम की भर्त्सना के समय हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती। यदि एक ओर तुलसी के रावण के प्रति हमारे हृदय में तुच्छभाव या घृणाभाव, और उनके राम के प्रति भक्तिभाव जाग्रत होगा, तो दूसरी ओर माइकेल के रावण के लिए हमारे हृदय में सहानुभूति जाग्रत होगी और राम के प्रति तुच्छभाव, किन्तु रस हमें दोनों ही अवस्थाओं में आयेगा और इसका मूल कारण यह है कि हम (हमारी अनुभूति) लेखक की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करते हैं।

आचार्य शुक्ल ने आलम्बन (सीता) का साधारणीकरण माना था, डॉ० नगेन्द्र ने उसका भी साधारणीकरण माना है, किन्तु उसे कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप मानते हुए। उन्हीं के शब्दों में 'जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणी-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण।' उनके कथनानुसार 'कवि वही होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सकता है। अपनी अनुभूति को व्यक्त कर लेना अलग बात है, इसका साधारणीकरण कर लेना अलग बात। सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त तो कर लेते हैं, परन्तु इसका साधारणीकरण करने की शक्ति कवि में होती है।'

डॉ० नगेन्द्र की मान्यताओं का सार तथा उनकी एवं आचार्य शुक्ल की मान्यताओं में वैषम्य इस प्रकार है—

(१) साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।

(२) अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सकने में जो व्यक्ति समर्थ है वही कवि है।

(३) आचार्य शुक्ल जिस आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं, डॉ० नगेन्द्र के अनुसार वह वस्तुतः कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप (तन्निर्मित उसका प्रतिनिधि अथवा प्रतीक) है। अतः 'कवि की अनुभूति' का ही साधारणीकरण मानना चाहिये।

(४) आचार्य शुक्ल ने सहृदय का आश्रय (आश्रयत्व धर्म) के साथ तादात्म्य स्वीकार किया था, किन्तु डॉ० नगेन्द्र के अनुसार वस्तुतः सहृदय का (स्पष्टतः कहें तो सहृदय की अनुभूति का) कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, स्वयं आश्रय भी कवि का मानस-पुत्र है, उसी की अनुभूति से जन्य है।

(५) आचार्य शुक्ल ने एक विशेष स्थिति में रस की मध्यम कोटि स्वीकार की थी, किन्तु डॉ० नगेन्द्र को यह कोटि स्वीकार नहीं है।

●

इस प्रकार भट्ट नायक से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक साधारणीकरण की व्याख्यागाथा प्रस्तुत करने पर इस विषय के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार करने की सामग्री उपस्थित हो गयी है। कुल मिलाकर हमारे सम्मुख चार प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(क) साधारणीकरण का स्वरूप क्या है?

(ख) साधारणीकरण किसका होता है?

(ग) क्या रसात्मकता की मध्यम कोटि स्वीकार होनी चाहिए?

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद में किस प्रकार सहायक बनता है?

इनमें तीसरा प्रश्न आचार्य शुक्ल के विवेचन-स्वरूप उत्पन्न हुआ है, इसी प्रसंग के अन्तर्गत पूर्वाचार्यों ने इस पर प्रकाश नहीं डाला था। शेष

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तीनों पर, जैसा कि ऊपर लिख आये हैं, इस सिद्धान्त के प्रवर्तक भट्ट नायक ने प्रारम्भ में ही प्रकाश डाल दिया था। उनके अनुसार—

(क) साधारणीकरण व्यापार उसे कहते हैं जिसके द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह आदि भावों से मुक्त हो जाता है

(ख) साधारणीकरण विभाव आदि सबका होता है।

(ग) साधारणीकरण रसास्वाद के लिए यह पृष्ठभूमि तैयार करता है।

इन तीनों वक्तव्यों में से प्रथम वक्तव्य थोड़े बहुत परिवर्द्धित एवं स्पष्टीकृत रूप में अभिनवगुप्त से डॉ० नगेन्द्र तक सभी आचार्यों को अपने मूल रूप में लगभग एक समान मान्य है। तृतीय कथन के सम्बन्ध में भी किसी को कोई आपत्ति नहीं है कि साधारणीकरण रसास्वाद की पूर्वस्थिति है—वहां तक पहुँचने के लिए यह एक अनिवार्य सोपान है। किन्तु द्वितीय कथन आधुनिक युग में अवश्य विवाद-ग्रस्त बन गया है। इस सम्बन्ध में भट्ट नायक और विश्वनाथ के कथन तो नितान्त स्पष्ट हैं कि साधारणीकरण विभाव आदि तीनों का होता है। अभिनवगुप्त ने भी प्रकारान्तर से इसे ही स्वीकार किया है। मृगपोतक (आश्रय), त्रासक (आलम्बन), भय (स्थायिभाव) इन सबका सामान्य रूप ग्रहण कर लेना उन्हें स्वीकार है। उनके पूर्वोक्त '**नटादि-सामग्री**' तथा '**काव्यार्पितानां वस्तुसतां देशकालप्रमात्रादीनाम्**' आदि कथन भी इस मान्यता की पुष्टि करते हैं। किन्तु इधर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र इस तथ्य से सहमत नहीं हैं।

[क]

आचार्य शुक्ल सहृदय का आश्रय (आश्रयत्व) से तादात्म्य स्वीकार करते हैं और आलम्बन (आलम्बनत्व) का साधारणीकरण (सामान्यीकरण)। निस्सन्देह यह स्थिति अस्वीकार्य नहीं है, किन्तु केवल इतने मात्र को 'साधारणी-करण' कहना समुचित नहीं है, वस्तुतः साधारणीकरण विभाव आदि तीनों के सम्मिलित क्रिया-कलाप [total impact] का होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रय से तादात्म्य—सम्बन्ध की स्वीकृति की प्रेरणा आचार्य शुक्ल को विश्वनाथ के 'तदभेदेन' शब्द से मिली है—'**प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।**' इस कथन के अनुसार सहृदय के विषय में यह माना गया है कि उसका हनुमान् के साथ अभेद-सम्बन्ध (आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'तादात्म्य') स्थापित हो जाता है, और परिणामतः सहृदय भी [मानसिक रूप में] समुद्रोल्लंघन करने लग जाता है। निस्सन्देह विश्वनाथ ने उदाहरण केवल आलम्बन-विभाव (आश्रय–हनुमान्, आलम्बन–समुद्रोल्लंघन-कार्य) का दिया

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है, किन्तु उन्हें अभिप्रेत यही है कि अनुभाव, संचारिभाव आदि भी इन्हीं के साथ स्वतः ग्रहणीय हैं। वस्तुतः आलम्बन विभाव के साथ शेष दो साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से स्वतः अनुस्यूत रहते हैं। इन दोनों के बिना आलम्बन-विभाव का वर्णन सम्भव ही नहीं है। इसी प्रसंग में स्वयं उन्होंने विभाव आदि के व्यापार को साधारणीकरण नाम दिया है—व्यापारोऽस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणी कृतिः। यहां 'विभाव आदि का व्यापार' से तात्पर्य है विभाव आदि तीनों का—विभाव (आश्रय, आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव), अनुभाव और संचारिभाव सब का—सम्मिश्रित क्रिया-कलाप, न कि केवल आश्रय और अथवा आलम्बन का। यही सम्मिश्रित क्रियाकलाप ही जब अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित होकर साधारण रूप ग्रहण कर लेता है, तभी सहृदय आश्रय के अनुकूल रति आदि भावों की अनुभूति कर सकने में समर्थ होता है। निस्सन्देह यह स्थिति साधारणीकरण का परिणाम है, यह स्वयं साधारणीकरण नहीं है। अस्तु! साधारणीकरण न केवल आश्रय का होता है, न आलम्बन का, और न इन दोनों का, अपितु विभावादि के सम्मिश्रित क्रिया-कलाप का—समस्त घटनाचक्र का—होता है।

[ख]

तो क्या विभावादि का सम्मिश्रित क्रियाकलाप 'कवि की अनुभूति' का दूसरा नाम नहीं है? हमारा विचार है कि नहीं। कवि की अनुभूति पूर्व-वर्ती है, वह माध्यम है, कारण एवं साधन है, और इधर विभावादि का सम्मिश्रित क्रियाकलाप उस अनुभूति से जन्य होने के कारण परवर्ती है। यह उसका कथ्य रूप है, परिणाम एवं साध्य है। यह अलग बात है कि इस कथ्य के पीछे वह सदा आधार बनी रहती है, किन्तु आधेय सदा यही कथ्य ही रहता है। सहृदय इसी क्रियाकलाप को पढ़ता, सुनता और देखता है, और इसी के साधारणीकृत हो जाने पर, [दूसरे शब्दों में, किसी घटना-विशेष से सम्बद्ध न रहकर सामान्य रूप ग्रहण कर लेने पर] सहृदय अपने पूर्व श्रद्धा, मोह, घृणा, ईर्ष्या आदि भावों से विमुक्त हो जाता है। बस, अब उसके के लिए राम और सीता, हरिश्चन्द्र और रोहिताश्व, रावण और कंस सामान्य धरातल पर उतर आते हैं और तभी उसके लिए रसास्वाद -प्राप्ति की भूमिका तैयार हो जाती है। जब तक यह अनुभूति कवि के हृदय तक सीमित रहती है—दूसरे शब्दों में, वह कथ्य रूपी आकार को धारण नहीं कर लेती, तब तक सहृदय का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है—यहां तक कि असाक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है। इस आकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को ग्रहण कर लेने पर कवि की अनुभूति के साथ सहृदय का निस्सन्देह असाक्षात् सम्बन्ध तो स्थापित हो जाता है, पर सहृदय की दृष्टि में साधारणीकृत रूप विभावादि का समग्र क्रियाकलाप (total impact) ही ग्रहण करता है। अतः यदि 'कवि की अनुभूति' से तात्पर्य कथ्य का आकार ग्रहण करने की पूर्वावस्था है तब तो इसका साधारणीकरण नहीं होता, और यदि इससे तात्पर्य कथ्य रूप आकार ही है, तो यह उसका लाक्षणिक प्रयोग है और ऐसे प्रयोगों को काव्य में तो स्थान मिलना चाहिए पर 'शास्त्रचर्चा' में नहीं।

'साधारणीकरण' का शास्त्रीय एवं परम्परा-सम्मत अर्थ है असाधारण (विशेष) घटना का साधारण (सामान्य) घटना के रूप में प्रस्तुत हो जाना। किन्तु डॉ० नगेन्द्र को, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, इसका एक अन्य अर्थ भी अभिप्रेत है—कवि और सहृदय के बीच साधारण (एक समान) मनोव्यापार का स्थापन। इसका तात्पर्य यह है कि कवि को जो भाव जिस रूप में अभीष्ट है सहृदय को भी वही भाव उसी रूप में मान्य हो जाए। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति की विशेष भावना उसी तक सीमित न रहकर अन्य सब की सांझी बन जाए—साधारण (सामान्य) रूप ग्रहण कर ले। उन्हीं के कथनानुसार कवि भी वही है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करने की क्षमता रखता है।

निस्सन्देह यह अर्थ उक्त परम्परा-सम्मत अर्थ के ही निकट है। अन्तर इतना है कि सहृदय के लिए डॉ० नगेन्द्र के मत में कवि की अनुभूति व्यष्टिनिष्ठता से हटकर साधारण रूप ग्रहण करके समष्टिनिष्ठ बन जाती है, और संस्कृत के आचार्यों के मत में यह अनुभूति नहीं अपितु इससे जन्य विभावादि का समग्र व्यापार यह रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार इन दोनों की केवल प्रक्रिया में ही अन्तर है—इधर एक सोपान है और उधर दो हैं। इधर अनुभूति का साधारणीकरण माना गया है, और उधर एक सोपान और आगे—इससे उत्पन्न समस्त घटना-चक्र का। किन्तु दोनों स्थितियों का शास्त्र-सम्मत परिपाक एक ही है—रसानुभूति-प्राप्ति के लिए अनिवार्य भूमिका का तैयार हो जाना।

कवि-तत्त्व का उल्लेख भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त ने प्रकारान्तर से, धनञ्जय-धनिक ने साक्षात् रूप से, और आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में, किया था, किन्तु कवि की 'अनुभूति' के साधारणीकरण की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। इस आन्तरिक तत्त्व की इस रूप में स्वीकृति सर्वप्रथम डॉ० नगेन्द्र ने प्रस्तुत की। इसका एक मात्र कारण है उनका मनोविश्लेषणात्मक जीवन-दर्शन। वह बाह्य उपलब्धि को देखने-परखने की

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अपेक्षा उसके आन्तरिक कारण को ढूंढ निकालने में कहीं अधिक विश्वास रखते हैं। उनके चिन्तन का यही सार उनकी रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त है—उनकी आलोचना के व्यावहारिक पक्ष में भी और सैद्धान्तिक पक्ष में भी। साधारणीकरण-सिद्धान्त भी इससे अस्पृश्य नहीं रह सका। अस्तु !

[ग]

आचार्य शुक्ल को 'रसात्मकता की मध्यम कोटि' इसलिए स्वीकृत थी कि किन्हीं परिस्थितियों में सहृदय का [रावणरूप] आश्रय के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध (विश्वनाथ के शब्दों में अभेद-सम्बन्ध) स्थापित नहीं हो पाता। किन्तु वस्तुतः देखा जाए तो शृङ्गार, भयानक आदि रसों में आश्रय और आलम्बन सदा एक व्यक्तिनिष्ठ नहीं रहते, क्षण-क्षण में परिवर्तित भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, शृङ्गार रस में राम की सदा आश्रय रूप में और सीता की सदा आलम्बन रूप में स्वीकृति नितान्त असम्भव है, मनोविज्ञान के भी प्रतिकूल है। अतः पारिभाषिक शब्दावली में कभी राम को आश्रय कहेंगे और सीता को आलम्बन, तो कभी इसके विपरीत सीता को आश्रय कहेंगे और राम को आलम्बन। यह स्थिति कितनी देर में परिवर्तित होती है यह रस-विशेष और घटना-विशेष पर आधारित है। शृङ्गार रस के प्रकरण में इनका प्रत्येक क्षण में परिवर्तित होते रहना स्वाभाविक है, अन्यथा यह विषय 'रसाभास' की कोटि में आयेगा। इसी सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि सीता के आश्रय रूप में तथा राम के आलम्बन रूप में स्थित होने की अवस्था में क्या पुरुष सहृदय का सीता के साथ अभेद-सम्बन्ध हो सकता है। इसका उत्तर है—हाँ, असन्दिग्ध रूप से। साधारणीकरण व्यापार का यही तो प्रभाव है कि समस्त घटना इस रूप में अपना निजी व्यक्तित्व खोकर सामान्य रूप धारण कर लेती है कि सहृदय जाति, धर्म, लिंग, वयः, देश, काल आदि सब प्रकार की सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। अस्तु ! आश्रय और आलम्बन किन्हीं रसों में परिवर्तित होते रहते हैं, किन्तु हाँ, किन्हीं रसों में निस्सन्देह ये परिवर्तित नहीं भी होते। जैसे करुण रस के प्रसंग में विलाप करता हुआ पिता सदा आश्रय रहेगा और मृत पुत्र सदा आलम्बन। अब शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत 'रावण-सीता-प्रसंग' को लीजिए। यहां आश्रय रावण को न मान कर सीता को मानना चाहिए। रावण यहां आलम्बन है। सीता (आश्रय) के हृदय में रावण के प्रति जिस प्रकार के भाव हैं सहृदय के मन में भी उसके प्रति वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में आचार्य शुक्ल के कथनानुसार रावण (आलम्बन) के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रसानुभूति की मध्यम कोटि स्वीकार करना समुचित नहीं है । हाँ, रावण द्वारा अपनी राजसभा में अथवा परशुराम द्वारा जनक की सभा में राम की भर्त्सना करने के प्रसंग में सहृदय का तादात्म्य किसके साथ माना जाए—यह समस्या थोड़ी जटिल है । इस जटिलता का मूल कारण है हमारा प्रबल संस्कार, अथवा कथा-प्रसंग का पहले से ही ज्ञान । किन्तु यदि हम किसी विदेशी अथवा इस कथा-प्रसंग से नितान्त अनभिज्ञ सहृदय को दृष्टि में रखें तो यह समस्या भी जटिल नहीं रह जाती । ऐसे सहृदय का तादात्म्य रावण अथवा परशुराम के साथ ही होगा । अब कथा-प्रसंग से परिचित व्यक्ति को लीजिए । हमारे विचार में ऐसे सहृदय का तादात्म्य भी रावण अथवा परशुराम (आश्रय) के साथ होता है । वस्तुतः साधारणीकरण व्यापार का प्रभाव ही यही है कि इससे हमारे सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों का विनाश हो जाता है । यदि इसके द्वारा—

परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥ उ०रा० १।२४

—ऐसे कथनों में सहृदय का राम के साथ तादात्म्य स्वीकार किया जाता है, तो उक्त प्रसंग में भी तत्क्षण के लिए रावण के साथ तादात्म्य स्वीकार करने में नितान्त आपत्ति नहीं होनी चाहिए । अस्तु ! रस की मध्यम कोटि स्वीकृत करना हमारे विचार में समुचित नहीं है । ऐसे स्थलों को 'रसाभास' के अन्तर्गत ग्रहण करना भी युक्तिसंगत नहीं है । उसका विषय-क्षेत्र इससे विभिन्न प्रकार का होता है ।

[घ]

साधारणीकरण रसास्वाद में भूमिका का कार्य करता है, यह शास्त्र-सम्मत मान्यता पीछे कई बार उल्लिखित हो चुकी है । 'सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायिभाव जब विभाव, अनुभाव और संचारिभाव का संयोग प्राप्त करता है तो रस रूप में अभिव्यक्त हो जाता है'—अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत यह सिद्धान्त साधारणीकरण के सन्दर्भ में किस प्रकार घटित होता है—अब अन्त में इस विषय पर प्रकाश डालना अपेक्षित है ।

इस सिद्धान्त-कथन में स्थायिभाव के सम्बन्ध में तो अभिनवगुप्त द्वारा स्पष्टतः कह दिया गया है कि वह सहृदय का होता है, किन्तु जब साधारणी-करण व्यापार-द्वारा आलम्बन विभाव के प्रथम पक्ष—आश्रय के साथ सहृदय का अभेद (तादात्म्य) स्वीकार कर लिया जाता है तो इसी के साथ-साथ यह भी अनिवार्यतः स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आश्रय के अनुभाव एवं संचारिभाव भी हमारे ही अनुभावों एवं संचारिभावों को

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जाग्रत करते हैं—इनमें से संचारिभाव तो मानसिक व्यापार हैं ही, हमारे अनुभाव भी मानसिक रूप से ही जाग्रत हो उठते हैं—क्योंकि काव्य-नाटक पढ़ते अथवा देखते समय राम, हनुमान, परशुराम, दुष्यन्त अथवा किसी भयग्रस्त व्यक्ति के समान सहृदय द्वारा कायिक चेष्टाएं करने लग जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, यद्यपि वह मानसिक रूप से ऐसा कर रहा होता है। शेष रहा आलम्बन विभाव का पहला पक्ष अर्थात् आलम्बन तथा उसकी बाह्य चेष्टाएं एवं आन्तरिक व्यापार—शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो क्रमशः उद्दीपनविभाव और संचारिभाव। हमारा विचार है कि इस पक्ष की प्रतिमूर्ति भी हमारे मन में ही अंकित होती जाती है—क्योंकि मनःस्थिति के अनेक एवं एक दूसरे से भिन्न कक्ष स्वीकार किया जाना कोई असम्भव परिकल्पना नहीं है। इस प्रकार हमारे विचार में सहृदय का स्थायिभाव सहृदयनिष्ठ ही विभाव अनुभाव, संचारिभाव के संयोग से (जो कि निस्सन्देह काव्य-नाटक के विभावादि के ही प्रतिरूप अथवा प्रतिबिम्ब होते हैं) रस रूप में अभिव्यक्त होता है। चाहें तो इस प्रक्रिया को विद्युत्-उत्पादक यंत्र (generator) से कुछ सीमा तक उपमित कर सकते हैं, जो अपनी शक्ति उत्पन्न करने के उपरान्त पुनः उसी शक्ति से ही संचलित होता रहता है। यदि साधारणीकरण व्यापार द्वारा विभावादि तीनों के वैशिष्ट्य के ह्रास होने के उपरान्त उनका साधारण रूप में परिणत होना स्वीकार किया जाता है तो इसी के परिणाम-स्वरूप इन सबके सहृदय-ग्राह्य एवं सहृदयनिष्ठ बन जाने पर उक्त प्रक्रिया की स्वीकृति में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। निष्कर्षतः—

१. किसी असाधारण अर्थात् विशेष [पदार्थ] का साधारण अर्थात् सामान्य रूप में ग्रहीत होना साधारणीकरण व्यापार कहता है।

२. काव्य-नाटक में साधारणीकरण विभावादि के सम्मिश्रित क्रियाकलाप का—समस्त घटनाचक्र—का होता है।

३. इस व्यापार के द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह आदि भावों से मुक्त हो जाता है।

४. साधारणीकरण रसास्वाद में भूमिका का कार्य करता है।

५. सहृदय का स्थायिभाव [साधारणीकरण के पृष्ठाधार पर] सहृदयनिष्ठ हो विभावादि का संयोग पाकर रसरूप में अभिव्यक्त हो जाता है।

६. रसात्मकता की मध्यम कोटि स्वीकार नहीं करनी चाहिए।

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १० :

शृङ्गार का रसराजत्व

हिन्दी के रीतिकालीन ग्राचार्यों में से कतिपय ग्राचार्यों ने शृङ्गार रस को स्पष्टतः ग्रथवा प्रकारान्तर से 'रसराज' माना है।[1] किन्तु उधर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने यद्यपि शृङ्गार रस को 'रसपति' ग्रथवा 'रसराज' ग्रादि की उपाधि से विभूषित नहीं किया[2], पर ग्रन्य रसों की ग्रपेक्षा वे इसे सर्वोत्कृष्ट रस के रूप में काव्यशास्त्र-निर्माण के ग्रारम्भिक युग से ही घोषित करते रहे हैं। भरत मुनि के 'शब्दों में संसार में जो कुछ भी पवित्र, विशुद्ध, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, उसकी शृङ्गार रस से उपमा दी जाती है।'[3] रुद्रट के कथनानुसार 'शृङ्गार रस जैसी रस्यता को ग्रन्य कोई रस उत्पन्न नहीं कर सकता। इस रस में ही ग्राबाल-वृद्ध सभी मानव (केवल मानव ही क्यों? पशु, पक्षी यहाँ तक कि लता-गुल्मादि भी) ग्रोतप्रोत हैं। इस रस के समावेश के विना काव्य हीन कोटि का है। ग्रतः इसके निरूपण-में कवि के लिए विशेष प्रयत्न ग्रपेक्षित है।'[4] ग्रौर, ग्रानन्दवर्द्धन के शब्दों में

---

१. उदाहरणार्थ—

केशव : सब को केसवदास कहि नायक है सिंगार। र० प्रि० १।१७

सोमनाथ : नव रस को पति सरस ग्रति रस सिंगार पहिचानि। र०पी०नी० ८।१

देव : भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार । भ०वि० १०

२. हाँ, रूपगोस्वामी ने 'मधुर' रस को 'भक्तिरसराट्' ग्रवश्य कहा है।

—उ०नी०म०, पृ० ४

३. यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणाऽनुमीयते।

—ना०शा० ६।४५ (वृत्ति)

४. सर्वरसेभ्यः शृङ्गारस्य प्राधान्यं प्रचिकटयिषुराह—

ग्रनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥ का०ग्र० १४।३८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शृङ्गार ही सर्वाधिक मधुर और परम आह्लादक रस है।[1]

उपर्युक्त स्थलों में शृङ्गार रस की अन्य रसों की अपेक्षा प्रकारान्तर से प्रमुखता घोषित की गयी है, इधर आगे चलकर आचार्यों का सम्भवतः एक वर्ग ऐसा भी रहा होगा, जिसे न केवल रस की संज्ञा अकेले 'शृङ्गार' रस को देनी अभीष्ट होगी, अपितु इसे वीरादि अन्य रसों का आधार भी मानना स्वीकृत होगा। उपलब्ध स्रोतों के अनुसार केवल भोजराज और अग्निपुराणकार के ही एतत्सम्वन्धी मत को प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है।

भोज—भोज ने शृङ्गार, वीर आदि दस रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल शृङ्गार को ही दी है।[2] शृङ्गार को इन्होंने 'अहंकार' और 'अभिमान' का पर्याय माना है।[3]

भोज द्वारा प्रयुक्त 'अहंकार' शब्द मिथ्यागर्व अथवा उत्तेजनाजन्य अभिमान का वाचक न होकर मनुष्य का अपने प्रति 'सहज अनुराग' का द्योतक है। इसी अहंभाव (आत्मानुराग) के कारण वह अपने स्नेहार्ह व्यक्तित्व का आभास करने लगता है। किसी कोमलांगी द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर एक पुरुष में जो आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मानुराग की भावना जाग्रत होकर उसे सहज सुख में आत्म-विभोर कर देती है वही 'अहंकार' की स्थिति है, और तभी उस पुरुष का मनमयूर नाच उठता है, वह अपने आपको धन्य, कृतकृत्य एवं स्नेहभाजन मानने लग जाता है—

अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया त्रस्तसारंगतरलायतनेत्रया ॥ शृं०प्र० (रा०) पृष्ठ ४६४

बस, भोज इसी 'अहंकार' को रस कहते हैं। उनके अनुसार रस की परिभाषा है—मनोनुकूल दुःखादि भावों में [भी] आत्मगत सुखद अभिमान की प्रतीति।[4]

१. शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। ध्वन्या० २।७

२. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषु दशरसान् सुधियो, वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥ शृं०प्र० (रा०) पृष्ट ४७०

३. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते। स०क०भ०५।१

४. मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रसः।
उदाहरणार्थ—दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयितनखदूयमानयोः विवर्धते स्तनयोः रोमांचः ॥ शृं०प्र०पृष्ठ ४६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसी अहंकार का अपर नाम शृङ्गार है, क्योंकि यही भाव सामाजिक को शृङ्ग अर्थात् सुख की चोटी (पराकाष्ठा) तक पहुंचा देता है।[1] अतः भोज को केवल अहंकार अथवा उसके पर्यायवाची शृङ्गार को ही रस की संज्ञा देनी अभीष्ट है, अन्य तथाकथित रसों को नहीं।[2]

'अहंकार' नामक यह मूल प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ नहीं है। यह पुण्यात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के निर्मल कर्मों और अनुभवों से प्राप्त होती है। यही मनुष्य की आत्मा की सम्पत्ति है, और श्रेष्ठ गुणों के उदय का कारण भी।[3] सहृदय, रसिक अथवा सामाजिक कहाने का अधिकारी भी केवल वही व्यक्ति है जिसमें यही 'अहंकार' नामक प्रवृत्ति जाग्रत हो चुकी है। जिस व्यक्ति में अहंकार अथवा शृङ्गार का अस्तित्व है, वही रसिक कहाता है, अन्यथा वह व्यक्ति नीरस कहा जाएगा।[4] अहंकारी—दूसरे शब्दों में शृङ्गारी—कवि अथवा सामाजिक ही जगत् को रसमय बना सकता है,[5] और काव्यानन्द प्राप्त कर सकता है। अहंकारी अथवा शृङ्गारी व्यक्ति में ही रति, हास, उत्साह आदि भावों का उदय होता है न कि अनहंकारी, अशृङ्गारी अथवा अरसिक व्यक्ति में। अतः भरतादि के अनुसार रत्यादि से रस की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है, अपितु आत्मा के अहंकार-विशेष शृङ्गाराख्य

---

१. येन शृङ्गं रीयते (गम्यते) स शृङ्गारः। वही, पृष्ठ ४७७

२. (क) स शृङ्गारः सोऽभिमानः स रसः।
(ख) रसः शृङ्गार एव एकः। वही पृष्ठ ४७७

३. सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा
जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतुः
जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः ।। वही, पृष्ठ ४६४

४. शृङ्गारो हि नाम × × × आत्मनोऽहंकारविशेषः सचेतसा रस्य-मानो रस इत्युच्यते, यदस्तित्वे रसिकोऽन्यथात्वे नीरस इति।
—वही पृष्ठ ५१७

५. तुलनार्थ—अग्निपुराणकार का 'शृङ्गारी' शब्द भी रसिक का ही वाचक है, न कि रतिप्रिय का—
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ।। अ०पु० ३३९। ८
[तुलनार्थ—ध्व० ३। ४३(वृत्ति), स० क०भ० ५।३]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रस से ही रत्यादि की उत्पत्ति मानना उचित है ।[1]

विषय की स्पष्टता के लिए इस प्रकरण में भोजमतानुसार रत्यादि भावों, अहंकार (अथवा शृङ्गार) तथा रत्यादि के पारस्परिक सम्बन्ध, और रसों की संख्या पर भी प्रकाश डालना अपेक्षित है।

भोज के मत में भरतादि के अनुसार रत्यादि आठ भावों को स्थायी, निर्वेद आदि तेतीस भावों को संचारी[2] तथा स्तम्भादि आठ भावों को सात्त्विक नामों से पुकारना उचित नहीं है। ये सभी भाव परिस्थिति और समय के अनुसार स्थायी और संचारी भी बन जाते हैं, तथा सत्त्व अर्थात् मन से प्रभूत होने के कारण ये सभी सात्त्विक भी कहाते हैं।[3]

उपर्युक्त ४९ भाव मनुष्य के अहंकार-तत्त्व से प्रगट होकर इसी अहंकार (अथवा शृङ्गार) ही को उस प्रकार प्रकाशित करते हैं, जिस प्रकार अग्नि से उत्पन्न ज्वालाएँ स्वयं अग्नि को ही चारों ओर से प्रकाशित करती हैं, अथवा 'अहंकार' एक नृप के समान है, और 'भाव' उसे सामन्तवर्ग के समान समान चारों ओर से घेर कर उसकी शोभा बढ़ाते हैं।[4]

---

१. 'न हि रत्यादिभूमा रसः' किं तर्हि ? शृङ्गारः । शृङ्गारो हि नाम ×× ×× आत्मनोऽहंकारविशेषः ××× । रत्यादीनामयमेव प्रभवः इति । शृङ्गारिणो (अहंकारिणो) हि रत्यादयो जायन्ते, न अशृङ्गारिणः । शृङ्गारी हि रमते, रमयते उत्सहते, स्निह्यतीति ।—शृं०प्र० (रा०) पृष्ठ ४७०

२. भोज ने संचारिभावों की संख्या तो तेतीस मानी है, पर भरतादि-सम्मत अपस्मार और मरण के स्थान उन्होंने ईर्ष्या और शम को गिनाया है।
—शृं० प्र० पृष्ठ ४५०, ५१७

३. वही, पृष्ठ ४७१, ५१७

४. रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति ।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति ।। वही, पृष्ठ ४६९ ।

५. भावाः संचारिणो ये स्थायिनो ये च सात्त्विकाः ।
सविभावानुभावास्ते शृङ्गारस्य प्रकाशकः ।।
प्रकृतिजमभिमानसंज्ञं सममनुभावविभाववर्गः ।
स्वमवसरमुपेयिवानुपास्ते नृपतिमिवाधिकृतेषु नीतिवर्गः ।। वही, पृष्ठ ४७१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भोज के मत में उपर्युक्त सभी के सभी भाव—न कि भरतादि के अनुसार केवल रत्यादि आठ तथाकथित स्थायी भाव—अहंकार के अनुप्रवेश के कारण विभावादि के द्वारा प्रकृष्टावस्था को पहुँच कर आनन्दप्रद बन जाते हैं, और इन्हें यदि 'रस' नाम से पुकार भी लिया जाता है, तो केवल उपचार द्वारा ही। पर वस्तुतः ये प्रमुख रूप से तो 'भाव' ही है—क्योंकि एक तो ये भोज-सम्मत रस-परिभाषा—'मनोनुकूल दुःखादि में आत्मगत सुखाभिमान की प्रतीति'—की कसौटी पर खरे नहीं उतरते; और दूसरे, ये सभी भाव अपने व्यापार द्वारा 'अहंकार' रूप रस को ही प्रकाशित करने के कारण 'रस' नहीं कहे जा सकते। भाव और रस में स्पष्ट अन्तर है भाव भावनापथ पर आरूढ़ हैं, पर रस भावनापथ से अतीत है। इस प्रकार भोज को केवल एक ही 'अहंकार'(श्रृङ्गार)रस स्वीकार्य है। हाँ, यदि रत्यादि-भाव-जन्य आनन्द-प्रदान को भी उपचार द्वारा 'रस' कहना है, तो सभी भावों में आनन्द-प्रदान की क्षमता होने के कारण रसों की संख्या ४९ तक पहुँचनी चाहिए।[1]

●

भोज ने 'रस' को तीन कोटियों में विभक्त किया है—रूढाहंकारता,

---

१. (क) यच्चोक्तम् 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् स्थायिनो रसत्वम्' इति तदपि मन्दम्, हर्षादिष्वपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगस्य विद्यमानत्वात्। तस्माद् रत्यादयः सर्वं एवैते भावाः। श्रृङ्गार एव एको रस इति। तैश्च सविभावानुभावैः प्रकाशमानः श्रृङ्गारः विशेषतः स्वदते। श्रृं०प्र०,पृष्ठ ५१७

(ख) यद्यपि श्रृङ्गार एव एको रसः, तथापि तत्प्रभावा ये रत्यादयः तेऽप्युद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानाः, तदनुप्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते। —वही, पृष्ठ ४७२

(ग) आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्त्तमानः
साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥ श्रृं० प्र०, पृष्ठ ५२०

ते (रत्यादयः) तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः। यावत्सम्भवं हि भावनया भाव्यमानो भाव एवोच्यते, भावनापथमतीतस्तु रसः। मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानो रसः। स तु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वाद् रत्यादिभूमसु उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम्, अपितु भावनाविषयत्वाद् भावत्वमेव। —वही, पृष्ठ ५१७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् मानव में अहंकार की अवस्थिति, यह रस की प्रथम कोटि है। रत्यादि ४९ भावों की परप्रकर्षता को [उपचार द्वारा] रस नाम से व्यपदिष्ट करना, यह दूसरी कोटि है। रति, हास, शोक, उत्साह आदि भावों की प्रेमरूप में परिणति, यह तीसरी (परम) कोटि है।[1] तीसरी कोटि को भोज ने 'प्रेमन्' रस की भी संज्ञा दी है।[2] सम्भवतः ऐसे स्थलों से प्रेरणा प्राप्त कर कवि कर्णपूर ने भी 'प्रेमन्' रस में सब रसों का अन्तर्भाव स्वीकृत किया है,[3] और हिन्दी के आचार्यों में देव कवि ने भी यही धारणा प्रगट की है।[4]

भोज-सम्मत उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि—

रत्यादि सभी (४९) भाव, जो मानव के 'अहंकार' की उपज हैं, काव्य-नाटकादि में वर्णित अथवा दर्शित होने पर विभावादि की सहायता से रसिक के अहंकार को जाग्रत और पुष्ट करते हैं। उनके मत में 'अहंकार' शब्द 'रस' का पर्यायवाची भी है और 'शृङ्गार' का भी। निस्सन्देह भोज रस को 'अहंकार' शब्द का पर्याय मान कर मानव-हृदय की अतल गहराई तक पहुँच गये हैं। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।५) के इस कथन के अनुसार मानव-हृदय द्वारा किसी के प्रति प्रकटित स्नेह, शोक, उपहास, उत्साह, क्रोध, घृणा, विस्मय, भय, निर्वेद, आदि भाव उस के अपने ही संतोष के लिए होते हैं—इसी संतोष अथवा आत्मानुराग का वाचक ही भोज का पारिभाषिक शब्द 'अहंकार' अथवा 'अभिमान' है। 'अहंकार' रत्यादि भावों का जनक भी है और इनसे परिपोष्य भी। 'अहंकार' ही की जागृति और सुतृप्ति काव्य का चरम लक्ष्य है।

(घ) रत्यादीनामेकोनपंचाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता। —वही, पृष्ठ ४५०

१. शृं० प्र० (रा०), पृष्ठ ४६३, ५२७

२. रसं तु इह प्रेमाणमेवामनन्ति सर्वेषामपि रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियो रण-प्रियोऽमर्षप्रियः परिहासप्रियः इति प्रेम्ण्येव पर्यवसानात्।

—शृं० प्र० (रा०) पृष्ठ ४६३

३. उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ ॥ अ० कौस्तुभ, पृष्ठ १४७-८

४. भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर साम्त संचार ॥ भवानी विलास, १०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भोज का उपर्युक्त मौलिक चिन्तन काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के लिए असंदिग्ध रूप से एक अभूतपूर्व देन है। भरतादि का 'रस' अलौकिक आनन्द का वाचक था, पर भोज का 'सुखाभिमानः रसः' काव्यगत लोकोत्तर आनन्द अर्थात् रस के मूल कारण का भी द्योतक है। अतः प्रकारान्तर से 'अहंकार' को 'रस' का पर्याय मानना तो ठीक है, पर 'येन शृङ्गं रीयते (गम्यते)' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'शृङ्गार' को चरमावस्था-वाचक अहंकार तथा रस, इन दोनों का पर्याय स्वीकार करना एक दृष्टि से समुचित होते हुए भी 'शृङ्गार' के परम्परागत रत्युत्कर्ष रूप अर्थ का उल्लंघक होने के कारण भ्रामक अवश्य है। वस्तुतः इस व्युत्पत्ति के मूल में पक्षपात की प्रवृत्ति कार्य कर रही है। भोज 'शृङ्गार' को ही सर्वस्व और सब रसों (भावों) का आधार मानने वाले आचार्य-वर्ग से प्रभावित था। अतः एक ओर तो उसने इसे उपर्युक्त व्युत्पत्ति के द्वारा व्यापक रूप से 'रस' का समानार्थक माना; और दूसरी ओर इसे 'प्रेमन्' का पर्याय मान कर सब रसों का आधार घोषित किया। उनके मत में रति ही भरतादि-सम्मत तथाकथित शृङ्गारादि रसों का मूल प्राण है। उदाहरणार्थ, रतिभावापन्न व्यक्ति रति-प्रिय है, तो युद्धोत्साह-सम्पन्न व्यक्ति रणप्रिय। इसी प्रकार क्रोध, हास आदि भावों से युक्त व्यक्ति क्रमशः अमर्षप्रिय और परिहासप्रिय हैं। स्पष्ट है कि शृङ्गार को 'सर्वभावाधार' मानने के लिए ही वर्गगत पक्षपात के बल पर इसे इतना व्यापक रूप दे दिया गया है। इस प्रकार से वीर रस का पक्षपाती भी कोई आचार्य रत्युत्साही, रणोत्साही, अमर्षोत्साही, परिहासोत्साही आलम्बनों की कल्पना कर सकता है। और फिर, एक ही शृङ्गार शब्द को शृङ्गार : रस : प्रेमन् (रस की तीसरी कोटि)—इन सब का समानार्थक मानना जितना एक मौलिक धारणा का सूचक है, उससे कहीं अधिक अव्यवस्था का उत्पादक और पक्षपात का द्योतक है।

●

भोज ने अहंकार रूप रस की उपर्युक्त तीन कोटियां मानी हैं—(क) रूढाहंकारता, (ख) रत्यादि ४६ भावों की उपचार द्वारा रस-व्यपदिष्टता; और (ग) भरतादि-सम्मत शृङ्गारादि रसों का प्रेमन् रस में अन्तर्भाव। इन्होंने उक्त कोटियों में अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रस-सम्बन्धी लगभग सम्पूर्ण विषय-सामग्री को 'अहंकाररूपैकप्रवृत्तिमूलक' बना कर यथासम्भव सीमित अवश्य कर दिया है, पर पहली दो कोटियों में 'अहंकार' तत्त्व के अतिरिक्त कोई विशेष नवीनता नहीं है। रूढाहंकारता नामक प्रथम कोटि में 'रूढत्व' भाव

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भरतादि-सम्मत 'वासना' के ही समकक्ष ठहरता है । द्वितीय कोटि में विभावादि द्वारा प्रकृष्ट रत्यादि की 'भाव' रूप, और उन भावों द्वारा जाग्रत अभिमान की 'रस' रूप स्वीकृति में लगभग वैसा ही पूर्वापर-सम्बन्ध है, जैसा कि भरतादि ने स्थायिभावों की 'व्यक्ति' अर्थात् चर्वणा और चर्वणा के आस्वाद अर्थात् रस में माना है । इसी दूसरी कोटि में भोज ने संचारी और सात्त्विक भावों की भी प्रकृष्टता को उपचार रूप से 'रस' की संज्ञा दी है; पर उनकी यह धारणा भी नितान्त मौलिक नहीं है । भरतादि के मत में प्रधानता से व्यंजित संचारिभावों द्वारा प्राप्त आस्वाद की भी स्वीकृति हुई है, जिसे विषय-स्पष्टता के लिए 'रस' के स्थान पर 'भाव' की संज्ञा दी गयी है । हाँ, सात्त्विक भावों की प्रधान रूप से व्यंजकता को यद्यपि भरत आदि ने अलग नाम से नहीं पुकारा, पर केवल अनुभाव-वर्णनात्मक स्थलों में विभाव और संचारिभावों के अध्याहार द्वारा रसास्वाद की प्राप्ति इन्हें भी स्वीकार्य है । अब शेष रही भोज-सम्मत रस की अन्तिम कोटि—प्रेमन् (शृङ्गार) में सब रसों का अन्तर्भाव । किन्तु यह कोटि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्गगत पक्षपात की ही अधिक परिचायिका है । इस की स्वीकृति में तो फिर संसार के किसी भी आभ्यन्तर अथवा बाह्य व्यवहार और कार्यकलाप का वर्गीकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा ।

निष्कर्ष यह कि—

(१) 'अहंकार' निस्सन्देह सब मानसिक भावों का मूल और सब भावों से पोष्य माना जा सकता है । उसकी परिपुष्ट जागृति को 'रस' भी कह सकते हैं । 'येन शृङ्गं रीयते' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शृङ्गार को व्यापक अर्थ में 'रस' अथवा 'अहंकार' का पर्याय भी, प्रकारान्तर से—खींचतान कर, मान लिया जा सकता है ।

(२) परन्तु भोज के अनुसार शृङ्गार को प्रेमन् का पर्याय मान कर सभी रसों (भावों) का शृङ्गार में अन्तर्भाव करके शृङ्गार (अथवा रति) को आधारभूत रस मानना हमें स्वीकार्य नहीं है ।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना नितान्त आवश्यक है कि भोज ने शृङ्गार रस को अन्य रसों की अपेक्षा उत्कृष्ट रस सिद्ध करने का कहीं प्रयास नहीं किया ।

●

अग्निपुराणकार—भोज से लगभग मिलता-जुलता सिद्धान्त इनका भी है—'आनन्द' परम ब्रह्म का सहजात है । आनन्द की अभिव्यक्ति 'चैतन्य-चमत्कार' अथवा 'रस' कहाती है; और चमत्कार अथवा रस का विकार (अभिव्यक्ति) अहंकार कहाता है । अहंकार से अभिमान की उत्पत्ति होती

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

है; और अभिमान से 'रति' की। यह रति व्यभिचारिभाव आदि के संयोग से 'शृंगार' नाम से पुकारी जाती है; और अपने अपने स्थायिभावों से परि-पुष्ट हास्य आदि इसी [रति अथवा श्रृङ्गार] के ही भेद हैं।[1] भरत के समान श्रृङ्गार, रौद्र, वीर और अद्भुत नामक चार मूल रसों को मानते हुए भी अग्निपुराणकार ने रति को ही इन चारों का मूल माना है। रति के चार रूप हैं—राग, तैक्षण्य, अवष्टम्भ और संकोच। इनसे क्रमशः श्रृङ्गार आदि चार रसों की उत्पत्ति होती है; और इन चारों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की।[2]

भोज ने 'अहंकार' से रत्यादि सभी (४९) भावों की उत्पत्ति मानी थी; पर अग्निपुराणकार ने एक श्रृंखला और मान ली—अहंकार से रति की उत्पत्ति होती है; और रति से अन्य रसों की। अग्निपुराणकार ने अहंकार और अभिमान में; तथा अभिमान और रति में उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर भोज ने अहंकार, अभिमान और श्रृङ्गार को परस्पर पर्याय मानते हुए भी अहंकार और श्रृङ्गार में प्रकारान्तर से ही उत्पादकोत्पाद्य संबन्ध स्वीकृत किया है—

आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
श्रृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः ॥[3] शृं० प्र०, पृष्ठ ५१३

इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्त में एक अन्तर और भी है। भोज के मत में 'श्रृङ्गार' व्यापक अर्थ में 'रस' का पर्याय है, पर अग्निपुराणकार के मत में यह रस का एक प्रमुख भेद है, जिसके हास्यादि अन्य भेद हैं। हाँ, रतिभाव से सब रसों की उत्पत्ति भोज को भी स्वीकृत थी, तभी 'प्रेमन्' रूप में रस (श्रृङ्गार) की तृतीय कोटि का भी इन्हें निर्माण करना पड़ा। निष्कर्ष यह कि निरूपण-प्रकार के थोड़े-बहुत अन्तर के साथ भोज और अग्निपुराणकार श्रृङ्गार को ही अन्य रसों का उत्पादक मानते हैं।

●

भोज और अग्निपुराणकार की इस वर्गगत शास्त्रीय चर्चा के उपरान्त अब अपने मूल विषय पर आते हैं।

१, २, अ० पु० ३३९।१-८

३. भोज द्वारा अहंकार और श्रृङ्गार में उत्पादकोत्पाद्य-सम्बन्ध की स्वीकृति करने पर भी इन दोनों शब्दों में समानार्थकता की स्थापना लाक्षणिक प्रयोग पर आधृत है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जैसा कि ऊपर कहा गया है, संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने शृङ्गार रस को 'रसराज' की उपाधि से स्पष्ट शब्दों में भूषित न करते हुए भी इसे सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकृत किया है। भरत, रुद्रट और आनन्दवर्द्धन के कथन प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये जा चुके हैं। इनके बाद भोज और अग्निपुराणकार का विभिन्न दृष्टिकोण सर्वांश रूप में मनस्तोषक और चित्तग्राही न होते हुए भी प्रकारान्तर से शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकृत करा लेता है। इधर आगे के आचार्यों ने शृङ्गार की सर्वोत्कृष्टता-सिद्धि के लिए निम्नोक्त कुछ अन्य कारण प्रस्तुत किये हैं तथा कई अन्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

—हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने शृङ्गार को प्रथम स्थान इस आधार पर दिया है कि 'इसका सम्बन्ध न केवल मानवजाति तक सीमित है, अपितु यह सकल-जाति-सामान्य, अत्यन्त परिचित एवं सकलमनोहारी है।'[1]

—विश्वनाथ ने शृङ्गार रस को व्यापक माना है और इसका कारण यह दिया है कि केवल एक यही रस है, जिसमें उग्रता, मरण और आलस्य को छोड़कर शेष सभी संचारिभावों, तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी संचारिभावत्वापन्न स्थायिभावों का समय अथवा परिस्थिति के अनुसार सम्बन्ध रहता है।[2] वस्तुतः देखा जाए तो उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा का भी शृङ्गार रस के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध-स्थापित हो ही जाता है। शारदातनय तो सभी संचारिभावों का शृङ्गार रस से सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।[3] किन्तु केवल स्थायी और संचारिभाव ही क्यों, अनुभाव और सात्त्विक भावों की सर्वाधिक स्थिति भी शृङ्गार रस के दोनों भेदों—संयोग और विप्रलम्भ—के साथ ही सम्भव है।

—इसके अतिरिक्त, विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण और शापहेतुक—ये पांच भेद, काम की 'चक्षुःप्रीति' आदि बारह, तथा 'अभिलाष' आदि अन्य दश अवस्थाएँ,[4] आलम्बन विभाव के अंतर्गत नायक, नायिका, सखी, दूती आदि का विस्तृत भेद-निरूपण, तथा नायक-नायिका के भाव, हाव, हेलादि

---

१. तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः।

—का०अ० पृष्ठ ८१, एकावली पृ०९९, ना०द० पृ० १६३

२. त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः। सा०द० ३।१८६

३. समग्रवर्णनाधारः शृङ्गारो वृद्धिमश्नुते। भा०प्र० पृष्ठ ९१

४. देखिए—प्र०रु०भू० पृष्ठ १९४; सा०द० ३।१९०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सत्त्वज अलंकार—ये सभी प्रसंग शृङ्गार रस की व्यापकता के साथ साथ इसकी सर्वोत्कृष्टता भी घोषित करते हैं।

—इधर सभी रसों में केवल यही एक रस है, जिसमें दोनों आलम्बनों (आलम्बन और आश्रय) की चेष्टाएँ एक दूसरे को उद्दीप्त करती हैं। दूसरे शब्दों में, अन्य रसों के आलम्बनयुगल परस्पर शत्रु अथवा उदासीन हैं, पर केवल इसी रस के ही आलम्बन परस्पर घनिष्ठ मित्र हैं।

—और फिर, समय-समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत सौहार्द, भक्ति, आदि तथाकथित रसों का भी शृङ्गार रस की व्यापकता में अन्तर्भाव हो सकता है।

इस प्रकार निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि :

१. शृङ्गार रस अन्य रसों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का है। चाहें तो आलंकारिक भाषा में इसे 'रसराज' अथवा 'रसपति' भी कह सकते हैं। किन्तु ऐसा कहने का आधार है—इसकी सर्वजनग्राह्यता तथा व्यापक-विषयता।

२. भोज के मतानुसार 'शृङ्गार' को रस का पर्याय स्वीकार करते हुए शृङ्गार आदि सभी रसों को इसी के 'प्रकार' मानकर उनका 'शृङ्गार' में अन्तर्भाव करना तथा इसी आधार पर शृङ्गार को सर्वप्रमुख रस मानना उचित नहीं है।

३. कुछ विद्वान् इस आधार पर भी शृङ्गार रस को सर्वोत्कृष्ट घोषित करना चाहेंगे कि सभी रस इसी से प्रसूत हैं, किन्तु इस धारणा की पुष्टि के लिए अत्यधिक खींचतान से काम लेना पड़ेगा और अधिक से अधिक हम यही सिद्ध कर पाएंगे कि इससे सभी रस सम्बन्धित अवश्य हैं—कुछ रस मित्र रूप में और कुछ अमित्र रूप में पर इससे प्रसूत नहीं हैं।

★

---

१. उदाहरणार्थ—देखिए, हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका-भाग (पृष्ठ ७४-७६), 'नव रसों का क्रम'।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: ११ :

रस की सुखदुःखात्मकता :

करुण आदि रसों का आस्वाद

सहृदय व्यक्ति शृङ्गार, हास्य आदि रसों द्वारा तो आस्वाद प्राप्त करता ही है, साथ ही उसे करुण, भयानक आदि रसों द्वारा भी आस्वाद की प्राप्ति होती है—यह कथन अपने आप में व्यावहारिक और तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक और भ्रान्त प्रतीत होता है, अतः संस्कृत के कतिपय काव्याचार्यों ने रस को सुख-दुःखात्मक कहा है। इनमें से नाट्यदर्पण के कर्ता रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम विशेष रूप से लिया जाता है क्योंकि उन्होंने इस विषय पर सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत की है। इस सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त-कथन है—**सुखदुःखात्मको रसः।** (३।७) इस कथन को स्पष्ट करते हुए इन दोनों ग्रन्थकारों का अभिमत है कि जहाँ शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं, वहाँ करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं।[1] प्रथम वर्ग के रस तो निर्विवाद रूप से सुखात्मक हैं ही, किन्तु द्वितीय वर्ग के रसों को भी यदि सुखात्मक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये हैं—

१. उनका पहला तर्क यह है कि भयानक आदि रस सहृदयों को किसी अवर्णनीय क्लेश-दशा तक पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला कहीं कोई उद्विग्न होता है?[2] सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रों तथा केशों का कर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व की मृत्यु, आदि घटनाओं के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद प्राप्त करता हो?[3]

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण, पृष्ठ ९०

2. भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो रसास्वादवताम् अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिः उद्विजते समाजः। न नाम सुखाऽऽस्वादाद् उद्वेगो घटते। —वही, पृष्ठ २९१

3. वही, पृष्ठ २९१-२९२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य-नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही किया जाता है। कविजन सांसारिक सुखों का वर्णन सुख-रूप में करते हैं और दुःखों का वर्णन दुःख-रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यों की करुण-दशाएँ निस्सन्देह दुःखात्मक होती हैं, अतः यदि उनके काव्य-नाटकगत अनुकरण को सुखात्मक माना जाए तो वह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योंकि वह लौकिक वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा।[1]

३. रस को सुखात्मक मानने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक में विरही एवं शोकाकुल जनों के सम्मुख कारुणिक प्रसंगों का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हें सुख-सान्त्वना मिलती है, इसी प्रकार काव्य-नाटक-गत करुण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही हैं, दुःखात्मक नहीं हैं। किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में भी दुःखी जनों को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलतः वह भी दुःखास्वाद ही है, क्योंकि यदि वही व्यक्ति दुःखपूर्ण वार्ताओं से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओं से [इतर जनों के समान] सुख का अनुभाव न कर विकलित ही होता है। अतः वादियों का उक्त सहानुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एवं मान्य नहीं है। वस्तुतः करुण आदि रस दुःखात्मक ही हैं।[2]

४. यद्यपि भयानक, करुण आदि रस दुःखात्मक ही हैं, फिर भी यदि इनसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते हैं तो केवल-मात्र कवि एवं नट की कुशलता से चमत्कृत होकर ही है।[3]

---

१. (क) कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसाराऽनुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति।

(ख) तथाऽनुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवताऽनुकार्यत्वात् तावद् दुःखात्मका: एव। यदि चाऽनुकरणे सुखात्मनः स्युः न सम्यग् अनुकरणं स्यात्। विपरीतत्वेन भासनाद् इति। —वही, पृष्ठ २९१–२९२

२. येऽपीष्टादिविनाशदुःखवतां करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव। दुःखी हि दुःखवार्त्तया सुखमभिमन्यते। प्रमोद-वार्त्तया तु ताम्यति इति करुणादयो दुःखात्मन एव इति। —वही, पृष्ठ २९२

३. यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथा-ऽवस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। × × × अनेनैव च सर्वाङ्गा-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस अन्तिम कथन से ग्रन्थकारों का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एवं मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एवं मार्मिक हृदयहारी अभिनय को देखकर हमें जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसकी लोलुपता ही सहृदय को करुण, भयानक आदि रसों से युक्त भी काव्य-नाटकों से आनन्द प्राप्त कराती है तथा उन्हें वारवार पढ़ने-देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दुःखात्मक ही होते हैं। एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में वीर पुरुष अपने उस प्राण-घातक शत्रु को भी देखकर आश्चर्यचकित से रह जाते हैं जो प्रहार करने में अत्यन्त निपुण होता है,[1] उसी प्रकार प्रेक्षक भी कवि अथवा नट के कौशल द्वारा चमत्कृत हो जाते हैं।

●

उक्त तर्कों में से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्विति को। तृतीय तर्क लौकिक सहानुभूति एवं सान्त्वना से सम्बद्ध है, और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एवं अभिनय-जन्य बाह्य चमत्कार से। यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार करें तो इन चारों तर्कों के मूल में एक ही भ्रान्त धारणा सन्नि-हित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति में कोई अन्तर नहीं है, ये दोनों एक ही धरातल पर अवस्थित हैं। यही कारण है कि पहले तर्क में सहृदय को भी भयानक, करुण आदि रसों द्वारा वैसा ही उद्विग्न एवं विकलित समझ लिया गया है जैसा कि सामान्य व्यवहार में भयभीत अथवा करुणाग्रस्त व्यक्ति को। किन्तु वस्तुतः लौकिक रति, शोक आदि भावों में तथा काव्यगत इन भावों में सदा अन्तर रहता है। लौकिक भाव एक देश, काल एवं व्यक्ति तक सीमित रहते हैं और काव्य-गत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते हैं।

इसी प्रकार दूसरे तर्क में भी उक्त धारणा के वल पर लौकिक घटनाओं काव्य-गत और घटनाओं को एक-समान समझ लिया गया है। किन्तु वस्तुतः यह एक अमान्य मंतव्य है। वस्तुतः दोनों में बहुविध एवं बहुहेतुक अन्तर रहता है। इनमें से एक अन्तर तो यह है कि काव्य में लौकिक घटनाओं के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण

ऽऽह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखा-त्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। —वही, पृष्ठ २९१

१. विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीर-मानिनः। —वही, पृष्ठ २९१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भी अनिवार्यतः रहता है। अतः 'लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता' को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुखदुःख का निर्णय करना मूलतः भ्रमपूर्ण है ।

अब तीसरे तर्क को लें । उधर लोक में पुत्र-विच्छेद-विह्वला माता के शोक में और इधर ऐसी माता को रंगमंच पर देखकर अथवा इसके चरित्र को काव्य में पढ़कर शोकविह्वल सहृदय के शोक में निस्सन्देह अन्तर है । उधर सान्त्वना से दुःख का हल्का होना, इसका कुछ क्षणों के लिए लुप्त हो जाना अथवा इसका बढ़ जाना आदि सभी स्थितियाँ सम्भव हैं, किन्तु इधर शोक स्थायिभाव से उद्विग्न अथवा आकुल (यदि इस स्थिति को यह नाम दें तो) सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना-प्रदान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि काव्य-नाटकगत घटनाओं से इतर घटनाओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं, और यदि उसके सम्मुख ऐसी घटनाएँ लायी भी जाती हैं तो उस समय वह सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति-मात्र रह जाता है ।

चतुर्थ तर्क में सत्यता अवश्य है, पर एकांगी । कवि के रचना-कौशल से, और विशेषतः नट के अभिनय-कौशल से, जन्य चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है । इस कथन की पुष्टि में एक प्रत्युदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त करुणोत्पादक एवं हृदयविदारक दृश्य भी एक अनाड़ी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा 'करुण' के स्थान पर 'हास्य' का रूप धारण कर लेता है । अस्तु ! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से तो किसी भी स्थिति में इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है,उसका उत्पादक कारण नहीं होता । उदाहरणार्थ, शृङ्गार रस में वह सहृदय के रति भाव को उद्दीप्त करता है,और करुण रस में उसके शोक भाव को । इसके अतिरिक्त उक्त कौशल-जन्य चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय में आश्चर्य, आदर आदि भाव भी उत्पन्न करता है । किन्तु [जैसा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मन्तव्य है] इन्हीं आश्चर्य, आदर आदि भावों को करुण, भयानक आदि रसों में सुख-प्राप्ति का कारण नहीं मानना चाहिए । यह भाव लौकिक होते हैं, अतः इनसे लौकिक आह्लाद ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—उत्पन्न नहीं हो सकता ।

●

रसों को सुखात्मक स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नहीं हैं । इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते हैं—

(क) येन त्वम्यधायि सुखदुःखजनशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सुखदुःखस्वभावो रसः। (अज्ञात आचार्य), अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २७८।

(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभय-जनकत्वम्। रसकलिका (रुद्रभट्ट) 'नम्बर आफ़ रसज़्, पृष्ठ १५५।

(ग) रसा हि सुखदुःखरूपाः। शृ० प्र० २य भाग, पृष्ठ ३६६

किन्तु इन कथनों से यद्यपि यह स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि उक्त आचार्य सभी रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करते थे अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दुःखात्मक, किन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान शृङ्गार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होंगे और भयानक, करुण आदि को दुःखात्मक। इन कथनों के अतिरिक्त आचार्य वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वयं अथवा सम्भवतः कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस में सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण मानते होंगे—

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः॥ का०सू०वृ० ३।१।६ वृत्ति

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटकों में सुख और दुःख का मिश्रण सहृदय जनों के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार ओज और प्रसाद का मिश्रण भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध है। सुख पहले होता है अथवा दुःख पहले—इस ओर इस श्लोक में कोई संकेत नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें करुण रस में दुःख की स्थिति पूर्व मान्य होगी और सुख की बाद में। दूसरे शब्दों में, सहृदय लौकिक दुःख का अनुभव करता हुआ भी अन्ततः काव्यगत आनन्द का, लोकोत्तर सुख का अनुभव करता है। कुछ इसी प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः सर्वप्रथम मौलिक रूप से प्रस्तुत की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसों से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसों में तुल्य रूप से नहीं होता। इसका कारण यह है कि सत्त्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि किसी रस में रजोगुण और तमोगुण नितान्त अभिभूत हो जाएँ और सत्त्वगुण पूर्णतः आविर्भूत अथवा उद्रिक्त हो जाए, अपितु रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अंश तक अवश्य विद्यमान रहते हैं।[1] ये किस रस में कितनी

१. सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखरूपत्वेऽपि रजस्तमोंश-मिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखाऽनुभवः।
—नम्बर आफ़ रस'स्, पृष्ठ १५६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मात्रा में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इसका निर्णय कर सकना कठिन है तथापि वे रहते अवश्य हैं। अतः उनके मिश्रण के तारतम्य के अनुसार सब रसों में सुख के साथ दुःख का मिश्रण भी समझना चाहिए। अस्तु !

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त चार विकल्प उपस्थित होते हैं—

(क) सभी रस सुखात्मक हैं,

(ख) सभी रस सुखदु:खात्मक हैं,

(ग) शृंगार, हास्य आदि रस सुखात्मक हैं, किन्तु करुण, भयानक आदि रस दु:खात्मक हैं,

(घ) शृङ्गार आदि रस तो सुखात्मक हैं, किन्तु करुण, भयानक आदि रस सुखदु:खात्मक हैं।

●

इन विकल्पों में से रामचन्द्र-गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्टतः तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए करुण आदि को दु:खात्मक स्वीकार करते हैं, तथापि वे इन्हें अन्ततः सुखात्मक भी स्वीकार करते होंगे, कुछ इस प्रकार का स्पष्ट संकेत उन्होंने स्वयं भी दिया है—**पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णाऽऽस्वादेन दुःखाऽऽस्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इव इति।**(हि०ना०द०, पृष्ठ २६१) अर्थात् जिस प्रकार पानक (खट्टे मीठे-तीखे पेय) की मिठास दु:खास्वादजनक तीक्ष्ण पदार्थ के मिश्रण से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार करुण आदि रसों में भी दु:ख का मिश्रण सुखास्वाद प्रदान करता है। वस्तुतः देखा जाए तो पानक पदार्थ और करुण रस में स्थापित यह उपमान-उपमेय-सम्बन्ध यथावत् एवं सुघटित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पानक में माधुर्य और तीक्ष्णता के मिश्रण में भले ही पूर्वापर-सम्बन्ध हो, किन्तु उसके आस्वाद में पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु करुण रस के शोक (लौकिक दु:ख) और इस रस के आस्वाद (सुख) में निःसन्देह पूर्वापर-सम्बन्ध बना रहता है, यद्यपि यह अलग बात है कि इनमें काल का अन्तर इतना त्वरित एवं क्षिप्र होता है कि यह कहते नहीं बनता कि इस दु:ख और सुख में कोई काल-सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु ! जो हो, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह उद्धरण यह मानने के लिए पर्याप्त है कि वह उक्त विकल्पों में से तीसरे विकल्प को स्वीकार न कर चौथे विकल्प को स्वीकार करते होंगे कि भयानक, करुण आदि रस केवल दु:खात्मक न होकर सुखदु:खात्मक हैं। अथवा यों कहिए कि दु:खसुखात्मक हैं—पूर्व स्थिति में ये दु:खात्मक हैं और अन्तिम स्थिति में सुखात्मक। यदि यही

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उनकी मान्यता है तो इसकी व्याख्या उपस्थित की जा सकती है। यदि वे भयानक, करुण आदि को नितान्त दुःखात्मक स्वीकार करते हैं तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिकूल है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से विश्वनाथ का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि करुण आदि रस इसलिए सुखात्मक है कि सहृदय-जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् लालायित रहते हैं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः॥ सा० द० ३।४,५

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कोई सुविज्ञ पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिन्तक आचार्य करुण आदि को केवल दुःखात्मक ही मानते होंगे। वह इसे दुःखात्मक मानते अवश्य होंगे किन्तु पूर्व स्थिति में, और अन्ततः वे इन्हें सुखात्मक ही मानते होंगे।

●

उपर्युक्त मान्यता की व्याख्या कई रूपों में तथा कई दृष्टियों से की जा सकती है :

१. शृङ्गार, करुणआदि सभी प्रकार के रसों में रति, शोक आदि सभी स्थायिभाव जब तक विभावादि के संयोग द्वारा रसरूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नहीं होते, तब तक उनसे लौकिक सुख अथवा दुःख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृङ्गार रस के नाटक में अपनी प्रेयसी की, अथवा करुण रस के नाटक में अपने मृत पुत्र की स्मृति हो आती है तो उसका रति अथवा शोक भाव उसे लौकिक सुख अथवा दुःख की अनुभूति कराएगा। वह प्रेक्षक नाट्य-गृह में बैठा हुआ भी तत्क्षण के लिए सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति ही होता है। किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण रस-दशा का है। उसी क्षण रति-जन्य सांसारिक सुख अथवा शोकजन्य सांसारिक दुःख इस दशा की पूर्वस्थिति बन जाते हैं और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

---

१. यहाँ 'सहृदय' से तात्पर्य है—काव्यरसास्वादन-सक्षम व्यक्ति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एवं सहकारिकारण काव्य में इसीलिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव कहाते हैं कि वे अब लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर लोकोत्तरता के क्षेत्र में जा पहुंचते हैं।[1] जब भय, शोक आदि भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त हैं, (चाहे वह घटना-स्थल नाटचगृह भी क्यों न हो), तब तक वे भाव निस्सन्देह दुःखात्मक हैं, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण वे भाव भयानक, करुण आदि सुःखात्मक रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

३. भयानक, करुण आदि को अपनी परिणति में सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रबल साधन है, जिसके बल पर सहृदय असाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।[2] उसका भय अथवा शोक किसी देश अथवा काल विशेष से मुक्त हो जाता है।[3] वह अपने समस्त मोह, संकट आदि [से जन्य अज्ञान] से निवृत्त हो जाता है।[4] परिणामतः, काव्य-नाटक-गत कोई पात्र अब उसके लिए अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर मानव-मात्र बन जाता है—राम नामक पुरुष-पात्र पुरुषमात्र बन जाता है, और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र बन जाता है।[5] और, इसका अगला परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनों प्रकार के विश्वासों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृङ्गार आदि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों

---

१. का० प्र० ४।२७, २८

२. 'असाधारणस्य साधारणकरणम्' इति साधारणीकरणम्। ['कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' इस सूत्र तथा (अभूततद्भावे इति वक्तव्यम्) इस वार्तिक के द्वारा च्वि प्रत्यय। 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' सूत्र से गति संज्ञा, और 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से समास होने पर 'साधारणीकरण' रूप सिद्ध हुआ।]

३. ××× भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्।

—हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४७०

४. काव्ये ××× नाटचे च ××× निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना ×××। —वही, पृष्ठ ४६४, ४६५

५. तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः।

—दशरूपक ४।४० (वृत्ति)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

द्वारा लौकिक दुःखानुभूति—यह अवस्था दोनों प्रकार के रसों में अलौकिक (लोकोत्तर) रूप में सुखात्मिका ही होती है।

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते हैं कि—

१. प्रत्येक स्थायीभाव अपरिपक्व अवस्था में लौकिक सुख अथवा दुःख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व अवस्था में केवल अलौकिक लोकोत्तर सुख का ही।

२. भयानक करुण आदि रसों में निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से जन्य दुःख का अनुभव करता है, किन्तु वह दुःख लौकिक ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृङ्गार, हास्य आदि रसों में रति, हास आदि से जन्य लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख अथवा दुःख रस-दशा की पूर्ववर्ती अवस्था है और रस-दशा उसकी परवर्ती अवस्था है।

३. किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख अथवा दुःख की अनुभूति हो ही, किन्हीं सहृदयों को नहीं भी होती, यद्यपि ऐसे सहृदयों की संख्या बहुत अल्प होती है, किन्तु दोनों प्रकार के रसों से उन्हें सुखानुभूति अवश्य प्राप्त होती है।

४. अतः भयानक आदि रसों को नित्य रूप से दुःखात्मक नहीं मान सकते, और अधिकांशतः ऐसा मान लेने पर भी वह दुःख लौकिक ही होता है, किन्तु वह दुःख परवर्ती अलौकिक सुखानुभूति की प्राप्ति के लिए किसी भी रूप में न तो अनिवार्य साधन है और न ही सहायक साधन। हाँ, वह अत्यन्त भावुक सहृदयों की अलौकिक सुखानुभूति के लिए उद्दीपक कारण अवश्य सिद्ध हो सकता है।

५. यह ठीक है कि लौकिक शोक, हर्ष आदि कारणों से लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं, किन्तु काव्य-नाटक में तो विभावादि द्वारा दोनों स्थितियों में लोकोत्तर सुख ही मिलता है।[1]

६. निष्कर्षतः करुण, भयानक आदि रस दुःखात्मक नहीं हैं, वे भी शृङ्गार आदि रसों के समान सुखात्मक ही हैं।

✶

---

१. लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति।

—सा० द० ३।७ (वृत्ति)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १२ :

रौद्र और वीर रस में अन्तर

मूल रस कौन-कौन से हैं, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने लिखा कि 'पहले शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स, इन चार रसों की उत्पत्ति हुई। फिर शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस पैदा हुए।[1] आगे चलकर शान्त और फिर वात्सल्य ये दो रस और भी मान लिये गये, और रसों की संख्या चार से नौ अथवा दस तक पहुंच गयी। शृङ्गारादि मुख्य चार रसों से हास्यादि चार रसों की उत्पत्ति क्यों मानी गयी, यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक आधार पर कुछ सीमा तक सुलझाया जा सकता है। शृङ्गार और हास्य, रौद्र और करुण, वीर और अद्भुत, तथा बीभत्स और भयानक इन रस-युग्मों में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। अतः उक्त स्थिति स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

अब यदि उक्त चार मूल रसों, शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स, के अन्तर पर विचार करें तो शृङ्गार और बीभत्स में स्पष्ट अन्तर है। एक का सम्बन्ध 'रति' के साथ है और दूसरे का 'घृणा' के साथ। पर रौद्र और वीर रसों की लगभग एक सी मूल प्रवृत्ति होने पर भी दोनों को मुख्य रसों में स्थान देना अवश्य खटकता है। रौद्र और वीर में से किसी एक को जनक मानकर दूसरे को उक्त रसों (हास्य, अद्भुत आदि) के समान बड़ी सरलता से जन्य माना जा सकता था। आख़िर, इन दोनों में ऐसा कौन सा अन्तर है जिसके कारण दोनों को प्रधान स्थान दे कर मूल रसों की संख्या में एक और की वृद्धि कर दी गयी। इसी अन्तर को इस निबन्ध में स्पष्ट करना है।

●

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रौद्र तथा वीर रस में साम्य-निर्देश

---

१. शृंगाराद् हि भवेद् हास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चैवाऽद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करते हुए कहा है कि दोनों में शत्रुपक्ष आलम्बन है।[1] दोनों रसों में शत्रुओं की चेष्टाएं उद्दीपनविभाव है।[2] अनुभाव भी लगभग एक-समान रहते हैं, शस्त्रों को उठाना, शत्रु को ललकारना, भ्रूविभंग, बाहु-स्फोटन, तर्जन, गर्जन, मुख तथा नेत्रों का रक्त हो जाना, इत्यादि सभी अनुभाव दोनों रसों में समान हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च, उग्रता, अमर्ष, आवेग, चापल्य इत्यादि संचारिभाव भी दोनों में एक-समान हैं।

किन्तु इस साम्य के होते हुए भी दोनों रसों के स्थायिभाव विभिन्न हैं—रौद्र रस का स्थायिभाव 'क्रोध' है और वीर रस का 'उत्साह'। इसी सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या (१) क्रोध का उत्साह में अथवा (२) उत्साह का क्रोध में अन्तर्भाव स्वीकार करते हुए इनमें से किसी एक रस का दूसरे रस में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता?

पहले पूर्व पक्ष को लेते हैं। युद्धवीर रस के किसी भी उदाहरण में क्रोध का अंश अवश्य सम्मिलित रहता है, क्रोध युद्ध का सहचर है। क्रोध पहले आता है, उत्साह बाद में। इन दोनों में जनकजन्य-सम्बन्ध है—

सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ-बध करूं।
तो शपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूं॥

यहां क्रोध की उत्पत्ति के बाद ही अर्जुन में युद्ध करने का उत्साह पैदा हुआ है। इसी प्रकार—

भो लंकेश्वर, दीयतां जनकजा, रामः स्वयं याचते,
कोऽयं ते मतिविभ्रमः, स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद् गतम्।
नैवं चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजापंकिलः,
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः॥ सा०द०३।२३४(उ०)

विश्वनाथ-प्रस्तुत वीर रस के इस उदाहरण में यह नितान्त स्पष्ट है कि श्रीरामचन्द्र क्रोध से अभिभूत होकर रावण को ललकार रहे हैं। युद्धवीर के उदाहरणों में ही क्यों, दानवीर के निम्नोक्त उदाहरण में दानी हरिश्चन्द्र की उक्ति में भी क्रोध का स्वर झंकृत हो रहा है—

---

१. रौद्र : आलम्बनमरिस्तत्र। सा०द०३।२२८
वीर : आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।—वही, ३।२३३
२. रौद्र : तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्। —वही, ३।२२८।
वीर : विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः —वही, ३।२३३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हूँ मन्द।
रखिहौं, निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ॥

यदि यही स्थिति है, तो फिर क्यों न रौद्र और वीर रस का एक ही स्थायिभाव 'क्रोध' मान लिया जाए, और परिणामतः 'क्रोध' स्थायिभाव में उत्साह 'स्थायिभाव' का, और रौद्र रस में वीर रस का अन्तर्भाव स्वीकार कर लिया जाए ?

'उत्साह' की स्थिति को निम्न धरातल पर ले जाने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि इसका 'क्रोध' में अन्तर्भाव किया जा सकता है, अपितु इसको एक मात्र वीर रस से सम्बद्ध न मान कर सभी रसों से सम्बद्ध माना जा सकता है, और इस तरह इसे स्थायिभाव के पद से च्युत करके 'संचारिभाव' के स्तर पर ले जाया जा सकता है। उत्साह का लक्षण है—

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।

अर्थात्, प्रत्येक प्रकार के कार्यारम्भ के लिये उत्साह की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, सिंह से भीत होकर भागने के लिए कायर में 'उत्साह' चाहिए। भयानक परशुराम के भयानकतर कुठार को देखकर क्रोधपूर्ण उक्तियां कहने के लिए भी लक्ष्मण में उत्साह चाहिए। इतना ही क्यों ? शकुन्तला के सौन्दर्य से आकृष्ट होने के उपरान्त उसके प्रति प्रणय-निवेदन के लिए भी दुष्यन्त के हृदय में 'उत्साह' चाहिए। मृत पुत्र के शव को देख कर किसी पिता का करुण-क्रन्दन भी विशिष्ट प्रकार के 'उत्साह' की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार 'उत्साह' की स्थिति सभी रसों में अनिवार्यतः ग्रहण की जा सकती है। यही कारण है कि उत्साह को कई आचार्यों ने केवल वीर रस का स्थायिभाव न मान कर इसे व्यभिचारिभाव मानते हुए सभी रसों के लिए आवश्यक ठहराया है।[1] जो भाव सभी रसों के लिए किसी न किसी रूप में अपेक्षित है, उसे वीर रस का स्थायिभाव बनने का गौरव क्यों प्रदान किया जाए ? क्यों न उसे एक संचारिभाव ही मान लिया जाए ? और फिर, क्यों न 'क्रोध' को ही रौद्र तथा वीर रस का स्थायिभाव मानकर रौद्र में वीर का अन्तर्भाव कर दिया जाए ? यदि अन्तर्भाव न भी किया जाए, पर वीर को रौद्र का एक भेद अथवा अंग तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

किन्तु इधर इसके विपरीत वीर रस में ही रौद्र रस का अन्तर्भाव करने के पक्ष में भी एक प्रबल हेतु उपस्थित किया जा सकता है कि क्रोध पूर्वावस्था

---

१. उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। (संगीतरत्नाकर)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है, युद्धोत्साह उत्तरावस्था। क्रोध कारण है, युद्धोत्साह कार्य। कारण और कार्य में कारण सदा गौण माना जाता है और कार्य सदा प्रधान। रौद्र रूपी कारण के परिणामस्वरूप ही वीर रस रूपी कार्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर क्यों न वीर रस में रौद्र रस का अन्तर्भाव कर दिया जाए? अथवा रौद्र रस को वीर रस की प्रथमावस्था स्वीकार करते हुए इसे वीर रस का एक अंग स्वीकार किया जाए?

●

परन्तु रौद्र रस और वीर रस को एक मानने में जो तर्क दिये गये हैं वे अति शिथिल हैं। वस्तुतः ये दोनों रस परस्पर विभिन्न हैं। विश्वनाथ ने इनके साम्य का तो निर्देश किया ही है—जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उन्होंने इनकी विभिन्नता पर भी प्रकाश डाला है कि रौद्र रस का वर्ण रक्त है तो वीर का हेम; रौद्र का देवता रुद्र है तो वीर का महेन्द्र। किन्तु वर्ण और देवताओं की यह विभिन्नता वस्तुतः कवि-परम्परा अथवा शास्त्र-परम्परा मात्र ही है। यदि इन पर तनिक भी ध्यान न दें तो भी दोनों रसों में स्पष्ट अन्तर है—

—रौद्र रस का स्थायिभाव क्रोध है। क्रोध इस रस में स्थिर होकर रहता है, यहां वह युद्धोत्साह की ओर अग्रसर नहीं होता।

—वीर रस का स्थायिभाव उत्साह है। वीर रस में क्रोध उत्पन्न तो होता है, पर स्थिर न रह कर युद्धोत्साह की ओर अग्रसर हो जाता है। यहां क्रोध प्रेरक अथवा साधन रूप में आता है और युद्धोत्साह प्रेरणीय अथवा साध्य रूप में। क्रोध पोषक रहता है, उत्साह पोष्य; क्रोध गौण रहता है, उत्साह प्रधान। अतः वीर रस का स्थायिभाव उत्साह ही है, क्रोध नहीं। वस्तुतः स्थायिभाव भी कुछ परिस्थितियों में संचारिभाव बन जाते हैं, क्रोध यहाँ संचारी रूप में रहता है, अथवा इस क्रोध को 'अमर्ष' संचारिभाव का नाम दे सकते हैं। माना कि प्रत्येक रस में उत्साह की आवश्यकता रहती है, पर **'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति'** के अनुसार प्रत्येक रस में उसका अपना-अपना स्थायिभाव ही प्रधान रहता है, और उत्साह की स्थिति संचारिभाव के रूप में रहती है। ठीक वैसे, जैसे वीर रस में उत्साह तो स्थायिभाव है और क्रोध संचारिभाव।

—रौद्र रस के स्थायिभाव 'क्रोध' और वीर रस के संचारिभाव 'क्रोध' में आकाश-पाताल का अन्तर है। रौद्र रस में पाशव क्रोध रहता है, पर वीर रस में भावात्मक क्रोध रहता है। पाशव क्रोध में क्रोधी अपने आपे में नहीं रहता, उसे क्रोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता, पर भावात्मक क्रोध में वीर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पुरुष सोत्साह होता है, उसमें वीरता, प्रसन्नता, हिताहित-विमर्श आदि गुण विद्यमान रहते हैं।

—रौद्र रस में क्रोधी पुरुष निर्बल अथवा अयोग्य व्यक्ति पर भी उबल पड़ता है, पर वीर रस के वर्णन में वीर का युद्धोत्साह अपने समकक्ष अथवा अपने से प्रबल शत्रु पर ही दिखाया जाता है।

ठीक इसी प्रकार रौद्र रस के स्थायिभाव 'क्रोध' और वीर रस के स्थायिभाव 'उत्साह' में भी बहुत दूर तक का अन्तर है—

—क्रोध रजोगुण-प्रसूत है[1], पर उत्साह सत्त्वगुण-प्रसूत, तभी तो क्रोध में विवेक का नाश हो जाता है और उत्साह में विवेक बना रहता है।

—क्रोधी व्यक्ति में प्रतिक्रिया की भावना रहती है, पर वीर में नहीं।

—क्रोधी मनुष्य में क्रोध करते समय अथवा शत्रु की प्रबलता का ज्ञान होने पर भय का मिश्रण बना रहता है, पर वीर पुरुष किसी भी स्थिति में भयभीत नहीं होता।

—क्रोधी अन्याय पर उतारू हो जाता है, पर वीर पुरुष कभी न्याय का साथ नहीं छोड़ता।

—क्रोधी पुरुष जितनी चपलता, उछल-कूद आदि आङ्गिक क्रियाएँ अथवा डींग हांकना आदि वाचिक क्रियाएं करता है, उतनी वीर नहीं। वीर पुरुष भी चापल्य और स्वशौर्य का प्रदर्शन अवश्य करता है, पर अपने बल से बढ़कर कदापि नहीं।

—क्रोधी और वीर दोनों के मुख अथवा नेत्र क्रोध तथा युद्धोत्साह के कारण रक्त हो जाते हैं, पर दोनों की रक्तता में अन्तर रहता है। क्रोधी की रक्तता दिखाती है कि अब वह अपने आपे से बाहर हो रहा है अथवा हो गया है ; अब वह शत्रु का कुछ न कुछ बिगाड़ कर रहेगा। स्वयं शत्रु का न सही तो उसके बच्चों का सही, उसके मकान का सही। यदि किसी का कुछ नहीं बिगाड़ पाएगा तो झुंझलाकर अपना मुंह-सिर तो अवश्य पीट डालेगा, किन्तु इसके विपरीत वीर पुरुष की रक्तता में उसकी गम्भीरता और विवेक की झलक मिलती है, शत्रु से पूर्णतया लोहा लेने की धुन प्रकट होती है। वीर पुरुष क्रोधी पुरुष के समान न तो शत्रु के मकानों अथवा बच्चों से बदला लेगा और न अपना मुंह-सिर पीट डालेगा। रक्तता दोनों में रहती है पर उसका

---

१. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। श्रीमद्भगवद्गीता ३।३७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कारण और परिणाम नितान्त भिन्न-भिन्न होता है। सम्भवतः विश्वनाथ की इस पंक्ति 'रक्तास्यनेत्रता चास्य भेदिनी युद्धवीरतः' का आशय भी यही लिया जा सकता है। क्रोधी का मुख रक्तिमा से तमतमा उठता है, मुंह से झाग निकलती है, पर वीर का मुख रक्तिमा से आभान्वित हो जाता है, यही दोनों की रक्तिमा में भेद है। वस्तुतः उक्त पंक्ति का अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि क्रोधी का मुख तथा नेत्र तो रक्त हो जाते हैं पर वीर के नहीं होते।

●

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वीर और रौद्र दोनों रस एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, एक का दूसरे में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। किन्तु कुछ विद्वान् रौद्र तथा वीर रस दोनों का 'अमर्ष' नामक स्थायिभाव मानकर दोनों को एक समझने के पक्ष में हैं। अमर्ष का लक्षण विश्वनाथ ने निम्न रूप से दिया है—

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षो अभिनिविष्टता।
नेत्ररागशिरः कम्पभ्रूभंगो तर्जनादिकृत्॥ सा० द० ३।१५६

अर्थात् निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण उत्पन्न चित्त के अभिनिवेश का नाम 'अमर्ष' है। इससे आंखों में लाली, सिर में कम्प, त्योरी चढ़ना, तर्जन आदि होते हैं।

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अमर्ष भी क्रोध का ही एक रूप है। यह रौद्र रस तथा वीर रस का संचारी तो रह सकता है पर उनका स्थायिभाव नहीं बन सकता। वस्तुतः 'अमर्ष' रौद्र रस का जितना पोषक है उतना वीर रस का नहीं। निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण क्रोध तो उत्पन्न होता है पर केवल इनसे ही युद्धोत्साह उत्पन्न नहीं होता। शकुन्तला द्वारा की गयी अवहेलना से दुर्वासा को अपने प्रति आदर का अभाव खटका और उससे क्रोध की उद्भावना हुई न कि युद्धोत्साह की। 'हर्षचरित' में ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती की निन्दा तथा आक्षेप-पूर्ण हंसी पर दुर्वासा क्रोध में पुकार उठा— "अयि विद्यालवावलेपदुर्विदग्धे किं मामुपहससि ?" इन शब्दों में भी 'अमर्ष' क्रोध का सूचक है, न कि युद्धोत्साह का। अमर्ष के विश्वनाथ-प्रस्तुत निम्नोक्त उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्॥ सा० द०, ३।१५६ (उ०)

अर्थात् 'मैं ऋषियों के प्रति किये गये व्यतिक्रम (आज्ञोल्लंघन) का तो प्रायश्चित्त कर लूंगा, पर शस्त्रग्रहण रूप महाव्रत को दूषित न करूंगा', परशुराम की इस

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उक्ति में राम-लक्ष्मण के प्रति क्रोध की मात्रा झलकती है, न कि उनके प्रति युद्धोत्साह की। अतः अमर्ष वीर रस का स्थायिभाव कभी नहीं बन सकता। निन्दा,आक्षेप,अपमानादि के कारण चित्त का अभिनिवेश अर्थात् अमर्ष 'युद्धोत्साह' का प्रेरक है, कारण है, प्रेरणीय अथवा कार्य नहीं है।

निष्कर्ष यह कि—

१. रौद्र और वीर ये दोनों रस नितान्त विभिन्न हैं।

२. इन दोनों का एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो रौद्र रस का स्थायिभाव 'क्रोध' वीर रस का स्थायिभाव बन सकता है, और न वीर रस का स्थायिभाव 'उत्साह' रौद्र रस का—यद्यपि ये दोनों स्थायिभाव इतर रस में संचारिभाव बन सकते हैं।

३. इसके अतिरिक्त इन दोनों रसों का एक ही स्थायिभाव 'अमर्ष' मानते हुए **इन्हें एक रस भी नहीं माना** जा सकता, क्योंकि अमर्ष नामक भाव संचारिभाव के ही रूप में दोनों रसों में विद्यमान रह सकता है—यद्यपि इसका अवकाश रौद्र रस के क्षेत्र में वीर रस की तुलना में अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १३ :

अद्भुत रस की स्थिति : अद्भुत तत्त्व की महत्ता

अद्भुत रस का स्थायिभाव 'विस्मय' है। अलौकिक वस्तु आलम्बन-विभाव है, उस वस्तु के गुण का वर्णन उद्दीपन-विभाव है। बाह्य चेष्टाओं का वर्णन आंगिक अनुभाव है। उसका आकार-वर्णन आहार्य अनुभाव है। स्तम्भ, स्वेद, रोमञ्च, गद्गद्ता, वेपथु आदि इसके सात्त्विक भाव हैं। इस प्रकार अद्भुत रस की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया भी बिल्कुल वही है जो अन्य रसों की है, किन्तु कतिपय आचार्यों ने इस रस को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण स्वीकार करते हुए इसे अन्य रसों का आधार घोषित किया है। इस दिशा में रामचन्द्र-गुणचन्द्र, धर्मदत्त और नारायण नामक आचार्यों के कथन विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'नाटक नामक रूपक में एक रस अंगीरूप में होना चाहिए तथा अन्य रस अंगरूप में। इसके अन्त में अद्भुत रस होना चाहिए,— **'एकाङ्गिरसम् अन्याङ्गम् अद्भुतान्तम्'**। 'अद्भुतान्तम्' पद का विग्रह करते हुए आचार्य कहते हैं कि **'अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र'**, अर्थात् नाटक के अन्त में — निर्वहण सन्धि में—अद्भुत रस होना चाहिए। इसकी व्याख्या में आगे कहा गया है कि 'नाटक में एक ओर शृंगार, वीर, रौद्र, आदि रसों द्वारा स्त्री-रत्न, पृथ्वीलाभ, शत्रुक्षय रूप सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है, और दूसरी ओर करुण, भयानक तथा वीभत्स रसों द्वारा इन सबकी अप्राप्ति। किन्तु नाटक के अन्त में अद्भुत रस द्वारा लोकोत्तर एवं असम्भाव्य फलरूप-प्राप्ति दिखानी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल तो अवश्य होता ही है, अतः यदि नाटक में असाधारण वस्तु रूप फल की कल्पना न की गयी तो फिर इसके निर्माण में परिश्रम करने से क्या लाभ ?'[1]

---

१. **एकाङ्गिरसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः।**

[× × × अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र। यतः शृंगारवीररौद्रैः स्त्रीरत्नपृथ्वीलाभशत्रुक्षयसम्पत्तिः। करुणभयानकबीभत्सैः तन्निवृत्तिः। इति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस कथन का अभिप्राय यह है कि अंगी रस चाहे कोई भी हो किन्तु उस रस से सम्बद्ध फल (अन्तिम परिपाक) 'अद्भुत' से मिश्रित होना चाहिए। 'अद्भुत' से यहाँ तात्पर्य है ऐसा फल जो एक ओर तो असम्भाव्य हो, अर्थात् जो सामान्य परिस्थितियों में सुलभ न हो, अथवा जिसके लिए नायक को लोकाचार से किंचिद् विलक्षण आचरण करना पड़े अथवा घोर विपत्तियों का सामना करना पड़े; और दूसरी ओर वह असाधारण (लोकोत्तर) हो, अर्थात् जिसकी प्राप्ति सामान्य जन के लिए प्रायः असम्भव सी होती हुई भी सब की लालसा एवं कामना का विषय बनी रहे। उदाहरणार्थ, सामान्य लोकव्यवहार में केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा नायिका की प्राप्ति में अद्भुत तत्त्व समाविष्ट नहीं है, अतः इस प्रकार की साधारण सी घटनाएँ नाटक का विषय नहीं होतीं। हाँ, दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम-प्रसंग नाटक का विषय बन सकता है, क्योंकि इस प्रकार की घटनाओं में एक ओर लोकाचार से विलक्षण आचरण रहता है, और दूसरी ओर अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला रूप फल-प्राप्ति प्रत्येक सहृदय की लालसा एवं कामना का विषय बन जाती है। यही स्थिति 'पृथ्वीराज-संयोगिता स्वयंवर' की भी है जो कि असामान्य वरमाला-प्रसंग के समावेश के कारण नाटक का विषय बन सकता है। इसी प्रकार वीर रस के नाटकों के लिए भी ऐसी ही घटनाएं अपेक्षित हैं। उदाहरणार्थ, नैपोलियन का यह कथन कि 'मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया' उसी स्थिति में नाटक का विषय बन सकता है जब कि या तो शत्रुपक्ष का कायरतापूर्ण पलायन भी साथ ही दिखाया जाए, या फिर यह दिखाया जाए कि शत्रुओं के रक्त की प्यासी तलवार ज्यों की त्यों खिंची रह गयी और 'बेचारा' आक्रान्ता जनशून्य शत्रु-नगरी में हाथ मलता रह गया। किन्तु इस सबसे बढ़कर आदर्श स्थिति 'राम-रावण युद्ध' जैसे प्रसंगों की समझनी चाहिए जिसमें राम ने रावण पर आक्रमण करके उसकी सेना तथा सहयोगी वीर-योद्धा सम्बन्धियों का मूलोच्छेदन करके लंका-विजय के उपरान्त सीता का उद्धार किया। अस्तु !

उपर्युक्त घटनाओं में शृंगार अथवा वीर रस अंगीभूत रूप में निस्संदेह स्वीकार किये जाएँगे। यदि इनमें अन्य रसों की गन्ध मिलेगी भी तो वे

इयता क्रमेण लोकोत्तराऽसम्भाव्यफलप्राप्तौ भवितव्यमन्ते अद्भुतेनैव। अपि च नाटकस्याऽसाधारणवस्तुलाभः फलत्वेन यदि न कल्प्यते तदानीं क्रियायाः फलमात्रं किञ्चिदस्त्येवेति किं तत्रोपायन्युत्पादनक्लेशेन। ना० द० १।१५ तथा वृत्ति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अंगी के पोषक होने के कारण अंगरूप में स्वीकृत रहेंगे। किन्तु अंगी (पोष्य) रस के चमत्कार का मूल कारण यह अंग (पोषक) रस नहीं होते, अपितु 'अद्भुत रस' का समावेश ही इस चमत्कार का मूल कारण होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त कथन की व्याख्या इसी अभिप्राय को लेकर की जा सकतीहै।

सम्भवतः इसी प्रकार की धारणाओं से अनुप्रेरित होकर धर्मदत्त नामक आचार्य ने निम्नलिखित कथन में अद्भुत रस की सर्वत्र (सब सरस रचनाओं में स्वीकृति कर ली थी—

रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः ॥ सा० द० ३।३ (वृत्ति)

और इसी आधार पर नारायण नामक आचार्य (आचार्य विश्वनाथ के प्रपिता-मह) ने केवल अद्भुत रस को ही एकमात्र रस घोषित किया था—

तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। सा० द० ३।३ (वृत्ति)

●

निस्सन्देह रस में 'चमत्कार' ही सारभूत तत्त्व है। चमत्कार को विश्वनाथ ने 'विस्मय' का अपर पर्याय कहा है, जिससे सहृदय के चित्त का विस्तार होता है—चमत्कारः चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। सा० द० ३।३ (वृत्ति), और इस चमत्कार अथवा विस्मय को खींचतान कर 'अद्भुत' का भी पर्याय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, और यही अद्भुत सभी रसों में एक अनिवार्य तत्त्व भी है, क्योंकि इसके बिना रस की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी—

(१) रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान इस 'अद्भुत' तत्त्व को 'अद्भुत रस' नाम से अभिहित नहीं करना चाहिए, और

(२) न ही आचार्य नारायण के समान इस 'अद्भुत' को ही एकमात्र रस स्वीकार करना चाहिए—

क्योंकि यह 'चमत्कार' अथवा 'अद्भुत' नामक तत्त्व रचना के मूल रस का केवल साधन-मात्र ही है, साध्य नहीं है, साध्य तो शृंगार आदि अन्य रस ही होते हैं। केवल इतना ही क्यों, यहां तक कि जिस रचना में अद्भुत रस साध्य रूप में रहेगा, वहाँ भी साधन रूप में अद्भुत तत्त्व की स्थिति अनिवार्यतः रहेगी। उदाहरणार्थ, 'रामाभ्युदय' नाटक में सीता-ज्वलन प्रकरण के अन्तर्गत सीता को गोद में लिए हुए अग्निदेव के प्रवेश करने का दृश्य देखिए—

धूम्रवातं वितानीकृतमुपरि शिखादोर्भिरभ्रंलिहाग्रैः,
बिभ्रद् भ्राजिष्णु रत्नं ततमुरसि तथा चर्म चामरवं च।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भूयस्तेजः प्रतानैर्विरहमलिनतां क्षालयन्नङ्कभाजो,
देव्याः सद्यश्चिराविर्भवति विफलयन् वाञ्छितान्यन्तकस्य ॥[1]

—हिन्दी ना०द०, पृष्ठ १८८ से उद्धृत

यह श्लोक अद्भुत रस का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसका स्थायिभाव 'विस्मय' है। गोद में लिये अग्निदेव विभाव हैं। अग्निदेव का बाह्य आकार अनुभाव है। आवेग, दैन्य, त्रास, औत्सुक्य, विषाद, चपलता आदि संचारिभाव हैं। 'विस्मय' नामक स्थायिभाव इन विभाव आदि के संयोग से अद्भुत रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, और अद्भुत रस की अभिव्यक्ति की यही स्थिति ठीक अन्य रसों की अभिव्यक्ति के समान ही है। शेष रहा 'अद्भुत' तत्त्व के समावेश का प्रश्न, तो यह तत्त्व जिस प्रकार श्रृंगार वीर, करुण आदि रसों में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार अद्भुत रस में भी रहता है।

अस्तु ! समुचित यह रहेगा कि इस अद्भुत तत्त्व को न तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान 'अदभुत' नाम देना चाहिए और न विश्वनाथ के समान इसे 'विस्मय' का अपर पर्याय मानना चाहिए, क्योंकि इनसे क्रमशः अद्भुत नामक रस और विस्मय नामक स्थायिभाव का भ्रम होता है। स्पष्टता के लिए इसे धर्मदत्त के समान 'चमत्कार' नाम ही देना चाहिए।

निष्कर्षतः

—अद्भुत रस अन्य रसों के समान एक रस है।

—श्रृंगार आदि सभी रसों में जिनमें अद्भुत रस भी सम्मिलित है 'अद्भुत रस' अनुस्यूत नहीं रहता, अपितु 'अद्भुत' नामक तत्त्व अनुस्यूत रहता है।

—विषय के स्पष्ट अवबोध के लिए इस तत्त्व को 'चमत्कार' नाम से ही अभिहित करना चाहिए, न 'अद्भुत' नाम से, और न 'विस्मय' नाम से।

★

---

१. आकाश को चुम्बित करनेवाली ज्वाला-रूप बाहुओं से धूम-समूह को वितान बनाकर, छाती पर चमकते हुए रत्न को तथा मृगचर्म को धारण किये हुए, अपने तेजःसमूह के द्वारा गोद में बैठी हुई सीतादेवी की विरह-जन्य मलिनता को दूर करते हुए वह्निदेव काल के मनोरथ को विफल करके प्रकट हो रहे हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १४ :

शान्त रस

शान्त रस के सम्बन्ध में दो प्रमुख प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला यह है कि इसका स्थायिभाव किसे माना जाए, और दूसरा यह कि क्या इस रस को काव्य के समान नाटक का भी विषय माना जाए। इस निबन्ध में इन्हीं दो प्रश्नों पर विचार किया जाएगा।

१. शान्त रस का स्थायिभाव—

शान्त रस का स्थायिभाव 'निर्वेद' को माना जाए अथवा 'शम' को, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मम्मट ने 'निर्वेद' नामक भाव की गणना स्थायिभावों में भी की है और संचारिभाव में भी। उन्हें इसी भाव को शान्त रस का स्थायिभाव भी मानना अभीष्ट है और संचारिभाव भी।[1] उन्होंने सभी स्थायिभाव और संचारिभावों की सूची प्रस्तुत करके इनका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, अतः उनके अनुसार 'निर्वेद' नामक स्थायिभाव और संचारिभाव के स्वरूप में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। इसी रेखा को आगे चलकर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट किया किन्तु प्रकारान्तर से। प्रकारान्तर से इसलिए कि उन्होंने शान्त रस का स्थायिभाव निर्वेद न मानकर 'शम' माना और 'निर्वेद' को संचारिभाव माना। इनके अनुसार—

—शम कहते हैं निःस्पृहता अर्थात् इच्छा के अभाव को 'निःस्पृहत्वंशमः।'[2]

—काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित विषयसंलग्नता से

---

१. (क) मम्मट ने 'निर्वेद' को संचारिभावों में प्रथम स्थान दिया ही इसीलिए है कि वह शान्त रस का स्थायिभाव है : 'निर्वेदस्य प्रथमम् उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिता-विधानार्थम्। —का०प्र०, ४।३४

(ख) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। —वही ४।३५

२. हिन्दी नाटयदर्पण, पृष्ठ ३३०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विमुक्त, अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप 'शम' नामक स्थायिभाव शान्त रस [के रूप मैं में अभिव्यक्त] होता है ।[1]

—जन्म-मरण से युक्त संसार से, भय तथा वैराग्य से, जीव, अजीव (परमात्मा और प्रकृति), पाप-पुण्य आदि तत्त्वों तथा मोक्ष के उपायों के प्रतिपादक शास्त्रों के विमर्शन से शान्त रस की उत्पत्ति होती है ।[2]

—दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, भ्रम, आक्रोश, ताडन, इष्टवियोग, परविभूतिदर्शन आदि (सांसारिक) क्लेशों के कारण विरसता (वैराग्य-भाव) तथा तत्त्वज्ञान 'निर्वेद' कहाता है ।[3]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त वक्तव्यों का अभिप्राय यह है कि विषय-संलग्नता से वास्तविक विरक्ति तो शम है, पर से दरिद्रता, पुत्र-मरण आदि व्याधियों से उत्पन्न वैराग्य-भाव निर्वेद है । शम स्थायिभाव है और निर्वेद संचारिभाव । इन दोनों आचार्यों ने मम्मट के उक्त मन्तव्य को इसी प्रसंग में स्पष्टत. अस्वीकृत करते हुए कहा है कि एक ही भाव (निर्वेद) को स्थायिभाव और संचारिभाव इन दोनों नामों से अभिहित करना स्ववचन-विरोध है ।[4]

किन्तु वस्तुतः निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो मम्मट को भी वही अभीष्ट है, जो इन दोनों आचार्यों को है । मम्मट के शान्त रस के प्रख्यात उदाहरण '**अहौ वा हारे वा कुसमशयने वा दृषदि वा**' से निस्सन्देह यही प्रतीत होता है कि निर्वेद नामक स्थायिभाव विषय-विमुक्ति से उत्पन्न विरक्ति-भाव है, न कि सांसारिक क्लेशों के कारण उत्पन्न विरक्ति भाव । हाँ, यह दूसरा रूप इसे संचारिभाव की ही संज्ञा देगा, स्थायिभाव की नहीं ।

मम्मट की इसी धारणा को मम्मट के टीकाकारों ने भी समझा था, और स्पष्टतः लिखा था—

स्थायी स्याद् विषयेष्वेष तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि ।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ ॥

—का० प्र० (बालबोधिनी टीका) पृष्ठ ११६

---

१. **कामक्रोधलोभमानमायाद्यनुपरक्तपरोन्मुखता-विवर्जिताऽक्लिष्टचेतो-रूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति ।** —वही पृष्ठ-३१७

२. वही, ३ । २० तथा वृत्ति

३. वही, ३ । २८ (सूत्र १८३) तथा वृत्ति

४, **मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किन्तु फिर भी, रामचद्र-गुणचन्द्र ने 'निर्वेद' और शम का स्वरूप अलग-अलग दिखाकर विषय की स्पष्टता में पूर्ण सहयोग दिया है, और सम्भवतः इनके ग्रन्थ से अथवा इसी के अनुरूप किसी अन्य ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर विश्वनाथ ने भी [काव्यप्रकाश के समान 'निर्वेद' को दोनों रूपों में स्वीकृत न कर] इन्हीं के अनुरूप शम तथा निर्वेद दोनों भावों की अलग-अलग स्वीकृति की है।[1] वस्तुतः स्वच्छ प्रतिपादन के लिए आवश्यक भी यही था।

इधर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में कुलपति ने अत्यन्त असमर्थ एवं शिथिल गद्यशैली में सम्भवतः इसी धारणा को ही व्यक्त करने का प्रयास किया है—

यह (शान्त रस) रस ही कहाता है, भावध्वनि नहीं। तत्त्वज्ञान से निर्वेद उपजता सो स्थायी है, और जहां स्थायी प्रधानता करके व्यंग होवे सो वही रस है। —रसरहस्य ६। ९२ (वृत्ति)

इस कथन से कुलपति का आशय यह है कि संसार की असारता रूप तत्त्वज्ञान अर्थात् वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद ही शान्तरस का प्रतिपाद्य विषय है न कि आपद्, ईर्ष्या, गृहकलह आदि से उत्पन्न निर्वेद। प्रथम प्रकार का निर्वेद स्थायिभाव कहाता है, और द्वितीय प्रकार का संचारिभाव। स्थायिभाव 'निर्वेद' शान्त रस का विषय है और संचारिभाव 'निर्वेद' भाव-ध्वनि का, जिसमें प्रधान रूप से निर्वेदादि संचारिभावों की ही व्यञ्जना होती है, रत्यादि स्थायिभावों की नहीं। अस्तु!

निष्कर्षतः 'शम' को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानना चाहिए। जहाँ 'निर्वेद' नामक संचारिभाव का वर्णन होगा, वहां शान्त रस न स्वीकार किया जाकर भाव-ध्वनि (शान्त-भाव अथवा शान्त-भाव-ध्वनि) स्वीकार की जानी चाहिए।

२. शान्त रस नाटक का विषय है अथवा नहीं—

इस प्रसंग पर सम्भवतः सर्वाधिक प्रकाश दशरूपककार धनञ्जय और उसके वृत्तिकार धनिक ने डाला है। धनञ्जक का इस सम्बन्ध में मूल कथन है—

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य। दशरूपक ४।३५

'प्रतिकुलविभावादिपरिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति।—वही, पृष्ठ ३३२

१. साहित्यदर्पण ३। १४२, १७५, २४५

२. सर्वथा नाटकादौ अभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

धनञ्जय के इस कथन पर धनिक ने शान्त रस को नाटक का विषय न होने का कारण यह दिया है कि शम में सभी व्यापारों का विलय हो जाने के कारण नाटकों में इसका अभिनय नहीं हो सकता; [२]और वादी रूप में काव्य का विषय होने का कारण यह दिया है कि काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय भी शब्द द्वारा प्रतिपादित हो सकने के कारण शान्त रस के लिए काव्य का विषय बनने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती[१]। पर वस्तुतः सिद्धान्त रूप में धनिक को शान्त रस का काव्य में प्रधान रूप से प्रयोग स्वीकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उनके कथन का हिन्दी में भावार्थ इस प्रकार है—'शान्त रस का विषय दुःख-सुख, द्वेष-राग एवं किसी भी प्रकार की चिन्ता से विनिर्मुक्त होने के कारण मोक्षावस्था में आत्म-स्वरूपता का ही विषय है, अतः [काव्य आदि में] वह अनिर्वचनीय है। यही कारण है कि स्वयं श्रुति को भी 'नेति नेति' प्रक्रिया का समाश्रय ग्रहण कर प्रकारान्तर से इसकी इस विषय की अनिर्वचनीयता घोषित करनी पड़ी। वस्तुतः शान्त रस का आस्वादन लौकिक विषयों के रसिक जनों की शक्ति से बाहर है। ××× फिर भी यदि काव्यादि में शान्त रस के आस्वाद का निरूपण किया जाता है, तो वह औपचारिक रूप से'।[२]

इसी प्रसंग में धनिक ने शान्त रस की अस्वीकृति के सम्बन्ध में तीन धारणाएं प्रस्तुत की हैं—

(क) कई आचार्य इस रस को स्वीकार करते हुए भी इसे काव्य, नाटक आदि का विषय नहीं बनाना चाहते। इसके प्रमाण-स्वरूप वे भरत की

तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याऽभिनयाऽयोगात्। —दशरूपक ४।३५ वृत्ति

१. ननु शान्तरसस्याऽनभिनेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति, तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते! —दशरूपक ४।४४ (वृत्ति)

२. शान्तो हि यदि तावत्—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

इत्येवंलक्षणः, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तस्य च स्वरूपेणाऽनिर्वचनीयता। तथाहि—श्रुतिरपि स एष नेति नेति इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। ××× तदुक्तयैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

—दशरूपक ४।४५ (वृत्ति)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

साक्षी देते हैं, जिन्होंने आठ स्थायिभावों एवं रसों की गणना की है ।[3]

(ख) दूसरे आचार्य शम अथवा निर्वेद की नितान्त अस्वीकृति करते हैं, यहाँ तक कि साधारण व्यवहार में भी इसे स्वीकार नहीं करते । इसका कारण यह है कि शम की स्थिति तभी सम्भव है जब राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-भावों का नितान्त विनाश हो जाए, पर संसारोत्पत्ति से लेकर अद्यावधि किसी सांसारिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति न तो कभी सम्भव हो पायी है और न होने की सम्भावना है । इस प्रकार शम अथवा निर्वेद स्थायिभाव की संसार में सत्ता ही नहीं है, अतः शान्त रस के अस्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।[1]

(ग) अन्य आचार्य शम स्थायिभाव अथवा शान्त रस की स्वीकृति करते हुए भी इसका अन्तर्भाव बीभत्स रस अथवा वीर रस में मानते हैं ।[2] संसार के प्रति घृणाभाव शान्त रस का एक अनिवार्य तत्त्व है, अतः यह बीभत्स रस में अन्तर्भूत हो सकता है । 'शम' नामक स्थायिभाव की अन्तिम परिणति है—परमात्म-तत्त्व अथवा मोक्ष की प्राप्ति । दूसरे शब्दों में, शम साधन है और यह प्राप्ति साध्य है । इस प्राप्ति के सभी साधनों को, जिनमें शम का प्रमुख स्थान है, एक प्रकार का 'उत्साह' नामक स्थायिभाव स्वीकार कर लेने से शान्त रस का अन्तर्भाव वीर रस में हो सकता है ।

●

इधर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में कुलपति ने भी सम्भवतः धनञ्जय के ही इसी कथन का अनुकरण करते हुए निम्नोक्त वक्तव्य प्रस्तुत किया है—

---

३. तत्र केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाऽकरणात् । —द० रू० ४।३५ (वृत्ति)

[यहां यह ज्ञातव्य है कि भरत ने केवल शृङ्गारादि आठ ही रसों के विभावादि साधनों का वर्णन किया है । नाट्यशास्त्र में शान्त रस के न तो विभावादि वर्णित हैं और न इस रस का लक्षण तक दिया गया है ।]

१. अन्ये तु वस्तुतस्तस्याऽभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहाऽऽयतरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । —वही

२. अन्ये तु वीरबीभत्सादौ अन्तर्भावं वर्णयन्ति । एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । —वही

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"यह रस (शान्त रस) काव्य में ही होता है नाटच में नहीं होता। सो इसके न होने का कारण कहते हैं। निर्वेदवासनावंत सहृदय की नाटच देखने की इच्छा नहीं होती, इस डर से कि नृत्य (नाटक) में वहुतेरे विषय हैं, कदाचित् किसी से विकार उपजै और काव्य तो एक विषय ही है इससे इसके श्रवण करने में कुछ अटक नहीं, इस कारण कवित्त में इसको कहो।"

—रसरहस्य ३। ६२ वृत्ति

स्पष्ट है कि कुलपति को न तो अभाववादियों के समान शान्त रस की अस्वीकृति अभीष्ट है, न अन्तर्भाववादियों के समान इस रस का वीर अथवा बीभत्स रस में अन्तर्भाव करना स्वीकार्य है, और न धनिक के समान इन्हें इस रस को काव्य का प्रधान रूप में विषय मानना अस्वीकार है। इनके सामने तो दशरूपक की उपर्युक्त पंक्ति के ये शब्द हैं—**पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य**—और सम्भवतः इन्हीं शब्दों के आक्षेप द्वारा, अथवा धनिक के वादिपक्ष के उपर्युक्त कथन द्वारा, अथवा गुरुमुख द्वारा इन्होंने शान्त रस की केवल काव्य में प्रयोग-स्वीकृति कर ली है, नाटक में नहीं। पर अपनी दोनों धारणाओं की पुष्टि में धनिक-सम्मत उपर्युक्त कारण उपस्थित न कर इन्होंने दो नवीन कारण उपस्थित किये हैं कि (१) नाटक वहुविषयी है, और काव्य एकविषयी, (२) 'निर्वेद-वासनावंत अर्थात् वैराग्यवान् व्यक्ति इस भय से [शान्त रस प्रधान भी] नाटक नहीं देखता कि कहीं कोई विषय उसके लिए विकारोत्पादक न वन जाए।

कुलपति ने शान्त रस की नाटक में अस्वीकृति के सम्बन्ध में जो कारण प्रस्तुत किया है, वह काव्य पर भी घटित हो जाता है। शान्त रस से सम्बद्ध होता हुआ भी कोई काव्य आरम्भ से अन्त तक एक-विषयी कभी नहीं रह सकता, अन्यथा वह काव्य न रह कर उपदेशात्मक ग्रन्थ बन जाएगा। अतः शान्तरसात्मक काव्य से भी विकारोत्पत्ति की—यदि वह होती है तो—उतनी ही सम्भावना है जितनी कि नाटक से। यह अलग प्रश्न है कि श्रव्य और दृश्य काव्यों द्वारा प्राप्य प्रभाव की क्षिप्रता में काल का तारतम्य सदा और अवश्य बना रहता है।

कुलपति की यह धारणा भी हमारे विचार में भ्रान्त है कि वहु-विषयात्मक होने के कारण शान्तरस-प्रधान भी नाटक निर्वेदवासनात्मक सहृदय के लिए विकारोत्पादक है। वस्तुतः सफल नाटकों [और काव्यों में भी] प्रधान रस का पर्यवसान इतनी प्रवल शक्ति और हृदयहारिणी युक्ति से होता है कि पूर्व पक्ष स्वयं ही दब कर न केवल प्रधान रस के विरुद्ध स्वप्रभावोत्पादन की क्षमता खो बैठता है, अपितु प्रधान रस की प्रभावशील चमत्कारोत्पादकता में और

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भी सहायक बन जाता है। उदाहरणार्थ, वीररस-प्रधान किसी नाटक [अथवा काव्य] में प्रमुख स्थायिभाव 'उत्साह' की पूर्ण परिणति हो जाने पर पूर्व-वर्णित भृत्य आदि नीच पात्रों द्वारा सम्पन्न कायरता-प्रदर्शक क्रिया-कलापों का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है, और वह न केवल वीर अपितु कायर भी सहृदय को उद्वेलित तो करता ही है, साथ ही विलोम रूप से इसके स्थायि-भाव को और अधिक पुष्ट करता है। इसी प्रकार शान्तरस-प्रधान नाटक अथवा काव्य में भी प्रमुख स्थायिभाव शम [अथवा निर्वेद] की पूर्ण परिणति हो जाने पर पूर्ववर्णित संसार-मोहोत्पादक प्रसंगों का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है। वह भी सहृदय को उद्वेलित करने के साथ-साथ शान्त रस की विभावादि-सामग्री के उपस्थित रहते समय तक विलोम रूप से उसके स्थायि-भाव 'शम'को—व्यवहार रूप में कहना चाहें तो उसके विरक्तिभाव को—और अधिक पुष्ट कर देता है। जब यह स्थिति सामान्य सहृदय की होती है, तो फिर निर्वेदवासनात्मक विवेकशील सहृदयों के लिए तो कहना ही क्या? अतः शान्त रस को नाटक के विषय के रूपमें अस्वीकृत करना युक्ति संगत नहीं है।

शंका अब भी शेष रह जाती है कि कितने सन्त-हृदय हैं जो नाटक देखते फिरते हैं जिनके लिए शान्तरस-प्रधान नाटकों का निर्माण किया जाय। इस शंका का समाधान अभावात्मक रूप में करने से सहल हो जाएगा। कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो वीर होते हुए भी वीररस-प्रधान नाटक और काव्य देखने-सुनने में रुचि नहीं रखते, और कितने ही वीतराग व्यक्ति ऐसे हैं जो अन्य रसों के प्रति रुचि रखते हुए भी शृङ्गार के प्रति रुचि नहीं रखते—**तर्हि वीत-रागाणां शृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसाच्च्यवतामिति!**[1] वस्तुतः नाटक और काव्य सहृदय-समाज के विषय हैं, जिसके लिए सन्त-हृदय अथवा असन्त-हृदय होना अनिवार्य नहीं है। ऐसी एक आपत्ति और भी की जा सकती है। शान्त रस में यथार्थ रुचि रखने वाले व्यक्ति संसार भर में मिलेंगे ही कितने? किन्तु एक तो, यही आपत्ति शान्तरस-प्रधान काव्य पर भी की जा सकती है, जिसमें कुलपति ने इस रस के विधान की स्वीकृति की है; और दूसरे, इसी आपत्ति के आधार पर शान्त रस की अस्वीकृति न केवल इस रस के प्रति अन्यायमूलक है, अपितु समाज को निर्वेद जैसी उदात्त वासना की अनुभूति और तज्जन्य शान्ति से वंचित रखना है। अतः सहृदयों के वर्गविशेष अथवा

---

१. ध्वन्यालोकलोचन (नम्बर आफ़ रसस्, पृष्ठ २४ के आधार पर)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उनकी बहुसंख्या को लक्ष्य में रख कर किसी रस को नाटक अथवा काव्य में स्थान न देना अनुचित है।

●

शान्त रस की अस्वीकृति पर धनिक के दो आक्षेप शेष रह जाते हैं—इस रस की नाटक में अनभिनेयता और काव्य में अनिर्वचनीयता। इन दोनों आक्षेपों का कारण एक ही है—निर्वेद (शम) में शेष सभी व्यापारों का विलय। अभिनवगुप्तने भी वादी के मुख से इसी आशय का कथन कहलवाया है—**न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्यः**।[1] निस्सन्देह निर्वेद की पर्यवसान-भूमि का, जिस में सभी विकार विलीन हो जाते हैं, अभिनय अथवा वर्णन कर सकना नितान्त असम्भव है, पर यह स्थिति केवल निर्वेद तक ही सीमित नहीं है, अपितु रत्यादि सभी वासनाओं पर घटित होती है। यही कारण है कि रति की सुरत-क्रीडा रूप, अथवा क्रोध की हत्या रूप पर्यवसान-भूमि का नाटक में प्रदर्शन वर्जित है। इसी प्रकार निर्वेद की अन्तिमावस्था का—सुखदुःखादि द्वन्द्वों से निर्लिप्तता का—न तो अभिनय सम्भव है और न वर्णन। फिर भी संसार को असार, मिथ्या और मायाजाल में आविष्ट अतएव त्याज्य प्रदर्शित करने वाले कारणों अर्थात् विभावों, उनसे मुक्त होने के अभिलाषी निर्वेद-वासनोद्रिक्त बुद्ध जैसे सन्त एवं मनीषी व्यक्ति के उत्तरोत्तर वृद्धिशील संघर्षों अर्थात् अनुभावों, तथा उसके हृदयस्थ चिन्ता, हर्ष आदि भावों अर्थात् संचारिभावों का तो नाटक आदि में वर्णन उसी प्रकार सहज-सम्भव है, जिस प्रकार शृङ्गार आदि अन्य रसों के विभाव, अनुभाव और संचारिभावों का। सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु को शान्त रस में भी विभावादि की विद्यमानता के बल पर अभाववादियों को उत्तर देना पड़ा होगा—**कश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम्। तदयुक्तम्। भावादिकारणानामत्रापि विद्यमानत्वात्।**[2]

●

अतः हमारे विचार में 'शम' को तत्त्वतः अनिर्वाच्य मानते हुए भी व्यवहार रूप में उसे काव्य और नाटक दोनों का वर्ण्य-विषय स्वीकृत करना संगत है। स्वयं धनञ्जय ने इसी प्रसंग में 'शम' की प्रतीति के सम्बन्ध में चार विभिन्न उपायों का उल्लेख किया है—मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा, और

---

१. अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र) पृष्ठ ३३४; 'नम्बर आफ़ रसस्', पृष्ठ २४

२. काव्यालंकार (टीकाभाग) पृष्ठ १६६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

धनिक ने इनका सम्बन्ध क्रमशः इन चित्तवृत्तियों के साथ जोड़ा है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप ।[1] इन दोनों आचार्यों के इस कथन का आशय यह है कि विकास आदि सूक्ष्म एवं आन्तरिक वृत्तियाँ हर व्यक्ति में विद्यमान हैं पर इनकी परिणति उपर्युक्त स्थूल एवं बाह्य रूप में जिस व्यक्ति में हो जाती है वह व्यक्ति 'शान्त', अथवा कुलपति के शब्दों में 'निर्वेदवासनावन्त' कहाता है । अब इसका शम (अर्थात् निर्वेद) मुदिता, मैत्री आदि बाह्य रूप में प्रकट हो जाने के कारण काव्य, नाटक आदि का विषय बन सकता है । वस्तुतः 'शम' की यह स्थिति अन्य स्थायिभावों की तुलना में किसी भी रूप में भिन्न नहीं है । काव्यशास्त्रीय [एवं मनोवैज्ञानिक] सिद्धान्तों के अनुसार रति, हास आदि स्थायिभाव तथा निर्वेद, लज्जा आदि संचारिभाव हर व्यक्ति में वासना रूप से विद्यमान रहते हुए भी काव्य, नाटक आदि के विषय तव तक नहीं बन सकते, जब तक वे किसी प्रकार से वाह्य रूप में प्रकट नहीं हो जाते । ठीक यही यथार्थता शम (निर्वेद) के सम्बन्ध में भी है । अतः अन्य रसों के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों का समान रूप से प्रतिपाद्य विषय बन सकता है । और यदि शम की प्रकर्षता का—दूसरे शब्दों में मोक्षावस्थाप्राप्ति का—वर्णन काव्य-नाटक आदि का विषय नहीं बन सकता—शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यः, तो इसकी यह स्थिति भी रति आदि अन्य स्थायिभावों के ठीक अनुरूप ही है । उनकी परा-काष्ठा को भी काव्य का वर्ज्य विषय घोषित किया गया है ।

निष्कर्षतः अन्य रसों के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों काव्यरूपों का वर्ण्य विषय बन सकता है ।

★

---

१. धनञ्जय—शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यः मुदितादेस्तदात्मता ।

धनिक—अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिविलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

—दशरूपक ४।४५ तथा वृत्ति ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १४ :

रसस्योक्तिः स्वशब्देन : एक रसदोष

आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत करते हुए न केवल उसे आत्म-पद से विभूषित किया, अपितु रस जैसे महनीय तत्त्व को भी उन्होंने ध्वनि के एक भेद रूप में ही प्रस्तुत किया, जिसका अपर नाम है असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि। काव्याचार्यों—विशेषतः आनन्दवर्द्धन और उसके परवर्ती काव्याचार्यों—का 'रस' से तात्पर्य केवल रस नहीं है, अपितु इससे तात्पर्य है—रसादि अर्थात् निम्नोक्त आठों काव्य-तत्त्व—रस, भाव, रसाभास भावाभास, भावशान्ति भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता। आनन्दवर्धन ने रस को, यों कहिए 'रस आदि' को, यदि ध्वनि का एक भेद स्वीकार किया तो इसका एक मात्र कारण यह है कि रस आदि के सभी उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, केवल वाच्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त सहृदय को रस का आस्वाद प्राप्त नहीं हो सकता। अस्तु !

'रसस्य स्वशब्दोक्ति' नामक दोष उक्त धारणा से सम्बद्ध है। 'स्वशब्दता' का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने रसवद् अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए इन शब्दों में किया था—

रसवद्दर्शितस्पष्टश्शृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ का०सा०सं०४।३

इस कथन से उनका अभिप्राय यह है कि रसवद् अलंकार वहाँ होता है जहाँ शृङ्गार आदि स्पष्ट (प्रधान अथवा अङ्गी) रूप से दिखाये गये हों, तथा साथ ही स्थायिभाव, संचारिभाव, विभाव तथा अभिनय अर्थात्—अनुभाव और सात्त्विक भाव [के विभिन्न प्रकारों] का 'स्वशब्द' से आस्पद (कथन) भी किया गया हो। इसी अलंकार के उदाहरण-स्वरूप उन्होंने निम्नोक्त तीन पद्य प्रस्तुत किये थे—

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत्॥
स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम्॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।
क्षणं प्रमोदालसया दृशाऽस्याऽऽस्यमभूष्यत ॥ का०सा०सं४।२-४

यह उदाहरण रसावादियों के मत में रस का है और अलंकारिवादियों के मत में रसवत् अलंकार का। उन दोनों का विभिन्न दृष्टिकोण ही इस धारणा का उत्तरदायी है। किन्तु यहाँ विचारणीय विषय यह दृष्टिकोण नहीं है अपितु यह है कि क्या किसी सरस वाक्य में रस आदि की 'स्वशब्दोक्ति' अनिवार्य है। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने उक्त पद्यों में विभाव आदि पाँचों तत्त्वों की स्वशब्दोक्ति का निर्देश करते हुए लिखा है कि यहाँ कन्दर्प अर्थात् 'रति' नामक स्थायिभाव, औत्सुक्य, चिन्ता, प्रमोद (हर्ष) नामक संचारिभाव, स्वेद और पुलक (रोमाञ्च) नामक सात्त्विकभाव—ये सभी, तथा इनके अतिरिक्त पार्वती और 'तस्य' अर्थात् महादेव ये दोनों विभाव भी स्वशब्द द्वारा कथित हैं। इस प्रकार यहाँ उद्भट-सम्मत रसवत् अलंकार का उक्त लक्षण घटित हो जाता है। उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज के इन वक्तव्यों से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उद्भट के समय तक रसवत् अलंकार के (अथवा यों कहिए, रस के) उदाहरणों में विभावादि की स्वशब्दोक्ति अनिवार्यतः स्वीकृत की जाती थी।

उद्भट के उपरान्त आनन्दवर्द्धन ने यद्यपि उक्त रसदोष का स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया, पर हाँ, रस वाच्य पर आधृत न होकर व्यङ्ग्य पर आधृत होता है इस प्रसंग में उन्होंने प्रकारान्तर से इस दोष की चर्चा अवश्य की है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि किसी भी रचना में विभाव आदि की परिपक्व सामग्री के अभाव में रसादि के नामोल्लेख मात्र से रसानुभूति नहीं हो जाती—**न हि केवलं शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति।**—ध्वन्या० १। ४ वृत्ति

आगे चलकर कुन्तक ने उद्भट के उक्त कथन का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन किया। उनके मत का सार यह है कि रस आदि की स्वशब्दोक्ति द्वारा ही यदि रसचर्वणा का चमत्कार स्वीकार किया जाए तब तो घृतपूर आदि [मिष्ठान्न] का नाम लेने मात्र से भी उनका आस्वाद प्राप्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[1]

---

१. यदपि कश्चित् 'स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्' इत्यनेन पूर्वमेव लक्षणं विशेषितम्। तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम्। × × × यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तः चेतनानां चर्वणचमत्कारं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कुन्तक के उपरान्त मम्मट ने 'रस आदि की स्वशब्दवाच्यता' को रस-दोषों में परिगणित किया। उन्हें इस दोष की प्रेरणा आनन्दवर्द्धन और सम्भवतः कुन्तक के उक्त प्रसंगों से मिली होगी। मम्मट के अनुकरण पर विश्वनाथ ने इस दोष की स्वीकृति की, और निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किये—

(क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत।
(ख) चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम्।
(ग) अजायत रतिस्तस्याः त्वयि लोचनगोचरे।
(घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।

मम्मट के उपरान्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सम्भवतः मम्मट के इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर उनसे असहमति प्रकट करते हुए इस दोष की नितान्त अस्वीकृति की है—**केचित्तु व्यभिचारिरसस्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः तदयुक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकप्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ।** अर्थात्, कई आचार्य रस, व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता को एक रसदोष मानते हैं, किन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इनके प्रयोग में भी विभावादि की पुष्टि ही होती है। उदाहरणार्थ **'दूरादुत्सुकमागते'**......... (हि० ना० द०, पृष्ठ ३२६) आदि पद्य में 'उत्सुकता' नामक संचारिभाव के 'स्वशब्दवाच्य' रूप में प्रयुक्त होने पर भी रस की उत्पत्ति होती ही है।

इस प्रकार इस रसदोष के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करने के उपरान्त अब हम कतिपय निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं—

(क) जहाँ विभाव आदि सामग्री अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप में प्रस्तुत की जाती है, अथवा इसका अभाव ही रहता है, वहाँ यदि रस, शृङ्गार, रति, लज्जा आदि शब्दों द्वारा कथन को सरस बनाने की चेष्टा की जाए तो निस्सन्देह ऐसे कथन न तो सरस कहलायेंगे और न काव्यत्व की किसी कोटि में ही वे अन्तर्भूत होंगे। वे केवल साधारण वार्तामात्र ही होंगे, जैसे कि विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उक्त चार वाक्य।

(ख) जहाँ विभाव आदि की सम्पूर्ण सामग्री का उपस्थापन सम्यक् रूप से किया जाए, और यदि वहां 'रस' आदि में से किसी एक का नाम-निर्देश भी अनायास हो जाए तो इन सरस प्रसंगों में यह दोष प्रथम तो स्वीकृत नहीं करना चाहिए, और यदि स्वीकृत किया जाये तो उसे क्षम्य समझना चाहिए,

---

कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतयः पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमानाः तदास्वाद-सम्पदं सम्पादयन्ति × × ×।—हि० वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ ३४३-३४४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्योंकि इससे रस-प्राप्ति में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रस्तुत उक्त पद्य में मानिनी के नेत्रों का प्रपञ्च-चातुर्य-पूर्ण वर्णन काव्याह्लादकता का उत्पादक है, किन्तु केवल 'उत्सुकम्' नामक संचारिभाव के प्रयोग से इसमें रसदोष मानकर काव्यत्व की अस्वीकृति अथवा हीन काव्यत्व की स्वीकृति करना समुचित नहीं है। इसी प्रकार एक ओर उद्भट तथा दूसरी ओर स्वयं मम्मट द्वारा प्रस्तुत दो उदाहरण भी[1] केवल वार्त्तामात्र न होकर काव्यचमत्कार के उत्पादन में समर्थ हैं, क्योंकि उस सहृदय को जो इस परिभाषिक काव्यदोष से नितान्त अपरिचित है, इन शब्दों के प्रयोग के कारण उसके आह्लाद में तनिक भी व्याघात नहीं पहुंचता।

(ग) काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इन प्रसंग में यह भी संकेत किया है कि स्थायिभाव, संचारिभाव आदि के प्रचलित नामों के स्थान पर यदि उनका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो वहाँ दोष नहीं रहता। उदाहरणार्थ 'ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्' में 'उत्साह' नामक स्थायिभाव का प्रयोग दोष का कारण है, किन्तु यदि यह पाठ कर दिया जाए तो यह दोष न रहेगा—प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत्। किन्तु यह धारणा भी समुचित नहीं है। वस्तुतः इस दोष का एक मात्र आधार है काव्य-चमत्कार की अपुष्टि। मम्मट-प्रस्तुत यह पद्य इस आधार पर भले ही सदोष हो, पर इस कारण इसे कदापि सदोष नहीं मानना चाहिए कि इसमें 'उत्साह' शब्द का प्रयोग हुआ है, और न यह मानना चाहिए कि 'प्रमोद' शब्द रख देने से यह दोष दूर हो जाएगा।

(घ) वस्तुतः इस दोष की स्वीकृति का मूल उद्देश्य व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्पष्ट करना है। अतः यदि रस, स्थायिभाव आदि का प्रयोग न किया जाए तो यह आदर्श स्थिति है, किन्तु विभाव आदि की परिपक्वता में इनका प्रयोग सदोष नहीं है। हां, विभावादि की अपरिपक्वता में इनका प्रयोग तो सदोष है ही।

अतः मम्मट एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र की उक्त धारणाएं आंशिक रूप से ही ग्राह्य हैं—पूर्ण रूप से नहीं।

★

१. (क) सव्रीडा दयितानने.......
(ख) [illegible] । का० प्र० ७।३२१, ३२२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १६ :

काव्य की आत्मा

आत्मा शब्द

आत्मा शब्द का अर्थ—'आत्मा' शब्द मूलतः काव्यशास्त्र का न होकर दर्शनशास्त्र का है। वेदान्त, न्यायदर्शन आदि में इस शब्द का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इन शास्त्रों द्वारा प्रस्तुत आत्मा के विभिन्न स्वरूपों और लक्षणों में से एक है—चैतन्यम् आत्मा, अर्थात् चेतनता को आत्मा कहते हैं, और दूसरा है—ज्ञानाधिकरणमात्मा, अर्थात् आत्मा ज्ञान का अधिकरण अर्थात् आधार है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी चेतनता का वाचक है। ज्ञान के अतिरिक्त इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख और दुःख ये सभी आत्मा का लिंग (चिह्न) माने गये हैं, अर्थात् इन्हीं के द्वारा आत्मा की सत्ता अनुमित की जा सकती है।[1] अस्तु ! स्पष्ट है कि आत्मा का यह स्वरूप सभी प्राणियों के, विशेषतः मानव के, शरीर को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है—जो शरीर का अधिष्ठाता एवं संचालक है, वही आत्मा है। विषय के सुगम अवबोध के लिए कह सकते हैं कि इस प्रसंग में 'आत्मा' शब्द 'प्राण' अथवा चेतनता का पर्याय-

---

१. 'आत्मा' शब्द को यहाँ हिन्दी-प्रयोग के अनुसार जानबूझ कर स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया गया है।

२. (क) 'चैतन्यमात्मा'—शिवसूत्र० १।१
(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी व्याख्या, भास्करी टीका, पृष्ठ २४५)

(ख) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।
—न्यायदर्शन १। १। १०

(ग) 'प्राण एव आत्मा' इति केचित् श्रुत्यन्तविदः (वेदान्तिनः)।

(घ) चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा, इति चार्वाकाः।
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् अडयार लायब्रेरी संस्करण, पृष्ठ-४१

(ङ) आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता।—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १। ४७

(च) आत्मत्वाऽभिसम्बन्धवान् आत्मा।
—तर्कभाषा (चौखम्बा) पृ० १५, पृ०१५०।

(छ) ज्ञानाधिकरणमात्मा। —तर्कसंग्रह (चौखम्बा) पृष्ठ ८।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाची है। जिसके बिना शरीर गतिहीन अतएव नितान्त निरर्थक है। लगभग इसी प्राण (अथवा चेतनता) अर्थ को लेकर काव्यशास्त्र में भी 'आत्मा' शब्द का व्यवहार किया गया है।[1] निस्सन्देह यहाँ यह शब्द वाचक रूप में प्रयुक्त न होकर लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहां 'आत्मा' शब्द का लक्ष्यार्थ है—काव्य का अनिवार्य तत्त्व।

काव्यशास्त्र में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग—काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम 'आत्मा' शब्द का प्रयोग वामन (८ वीं शती) ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए किया—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। इनके उपरान्त इसी दृष्टि से आनन्दवर्द्धन (११वीं शती) ने ध्वनि को और विश्वनाथ (१४ वीं शती) ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया —**'ध्वनिरात्मा काव्यस्य', 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**, और इन दोनों आचार्यों के मध्यवर्ती आचार्य कुन्तक (१२ वीं शती) ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इस शब्द के स्थान पर 'जीवित' शब्द का प्रयोग किया।[2] इस प्रसंग के अतिरिक्त 'काव्यपुरुष-रूपक' को उद्धृत करते हुए सर्वप्रथम राजशेखर (९वीं शती)[3] ने और इनके उपरान्त विश्वनाथ (१४ वीं शती) ने आत्मा शब्द का व्यवहार किया—

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, इति। —सा० द० १म परि०, पृष्ठ १६

---

१. यों मैकडोनल ने 'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति अन् (सांस लेना) धातु से मानते हुए इसका मूल अर्थ श्वास या प्राण माना है, तथा ऋग्वेद में आत्मा शब्द श्वास अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। किन्तु आचार्य शंकर ने कठोपनिषद् के भाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति इन चार धातुओं से मानी गयी है—आप्, आङ् पूर्वक दा, अद् तथा अस्—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते॥

२. यह कथन कुन्तक के ग्रन्थनाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' के आधार पर कहा जा रहा है। इस ग्रन्थ की किसी कारिका में वक्रोक्ति को 'जीवित' नहीं कहा गया—यद्यपि उन्हें इसे 'जीवित' अथवा 'आत्मा' मानना निस्सन्देह अभीष्ट था।

३. काव्यमीमांसा (बि० राष्ट्रभाषा परिषद्) पृष्ठ १२-१४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वस्तुतः देखा जाय तो यही रूपक ही 'काव्य की आत्मा किसे माना जाए'— इस प्रश्न का सर्वाधिक उत्तरदायी है। यह रूपक वामन के समय तक पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ था। इनसे पूर्व दण्डी ने 'पदावली' को काव्य का शरीर बताते हुए केवल शरीर की चर्चा की थी, और वामन ने उपर्युक्त रूप में केवल आत्मा की। वामन-पर्यन्त सभी आचार्य—भामह, दण्डी, उद्भट और वामन—गुण, अलंकार, दोष, रस आदि से परिचित थे, तो भी 'काव्यपुरुष रूपक' का अभी निर्माण नहीं हुआ था। यद्यपि आनन्दवर्द्धन के समय में, और आगे चलकर कुन्तक के समय तक, इस रूपक का निर्माण नहीं हुआ था, पर ध्वनि—विशेषतः रसध्वनि (अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि)—के आधार पर अलंकार, गुण, दोष और रीति का समुचित मूल्यांकन एवं स्वरूप-निर्धारण हो चुका था। अतः उनके समय तक उक्त रूपक के निर्मित न होने पर भी काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इस प्रश्न के यथावत् उत्तर की आवश्यकता उपस्थित हो गयी थी। अस्तु ! इस प्रकार यद्यपि आचार्य वामन पर्यन्त 'आत्मा' शब्द अपने परवर्ती विशिष्ट अर्थ में पूर्णतः स्थिर नहीं हुआ था, तो भी यह धारणा प्रबल रूप में मान्य हो चली थी कि काव्य में कोई न कोई तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है—भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के अनुसार यह तत्त्व 'अलंकार' था और वामन के मत में 'रीति'। और आगे चलकर, जैसा कि पहले लिख आये हैं, 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति और 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया। इस प्रकार 'काव्य की आत्मा' के निर्धारण करने के लिए उक्त पांचों सिद्धांतों का स्वरूप-प्रतिपादन एवं तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

१. अलंकार-सिद्धान्त

भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि अलंकार को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा कहीं भी नहीं कहा, तो भी इन सब की, विशेषतः दण्डी की, निम्नोक्त मान्यताओं से स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व एवं अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते थे—

१. भामह ने अलंकार को काव्य का एक आवश्यक आभूषक तत्त्व मानते हुए कहा कि अनेक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रूपक आदि अलंकार [काव्य में इस प्रकार आवश्यक हैं जिस प्रकार] किसी नारी का सुन्दर मुख भी आभूषणों के बिना शोभित नहीं होता।[1]

---

१. (क) रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥ का० अलं० १।१३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. ये आचार्य काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार नाम से अभिहित करने के पक्ष में हैं। दण्डी के शब्दों में—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' (काव्यादर्श २।१) इसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही, गुण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि भी इसी नाम से अभिहित होते हैं। इसी धारणा का उल्लेख यद्यपि रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन ने किया—सौन्दर्यमलंकारः (अर्थात्, काव्य का सभी प्रकार का चमत्कार अलंकार कहाता है), किन्तु इनके समग्र ग्रन्थ से इस धारणा की पुष्टि नहीं होती कि वे रीति की तुलना में अलंकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते हैं। भामह आदि अलंकारवादियों की इस धारणा की पुष्टि के लिए निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) इन आचार्यों ने अंगीभूत रसभाव, रसाभास, भावाभास तथा भावशान्ति को परवर्ती आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों के असमान इन्हीं नामों से अभिहित न कर इन्हें क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकार नाम दिया है,[२] और उद्भट ने अंगभूत इन सभी को 'द्वितीय उदात्त अलंकार' माना है।[३]

(ख) गुण को यद्यपि स्पष्टतः अलंकार नहीं कहा गया, किन्तु दण्डी के एक कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उपमा आदि अर्थालंकारों की तुलना में अनुप्रास आदि अलंकारों तथा माधुर्य आदि दश गुणों को उन्हें 'साधारण अलंकार' कहना अभीष्ट है—

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रकाश्यते॥ का० द० २।३।

—यद्यपि एक स्थल पर उन्होंने अलंकार और गुण दोनों को एक साथ स्पष्टतः अपने अपने नामों से भी अभिहित किया है। (काव्यादर्श ३।१८६)।

(ग) ध्वनि को इन तीनों आचार्यों ने यद्यपि कहीं भी स्पष्टतः अलंकार नाम से अभिहित नहीं किया. किन्तु रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त (पर्यायोक्ति), अपह्नुति, दीपक, द्वितीय व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, संकर आदि अलंकारों के

(ख) अनेन वागर्थविदामलंकृता।
विभाति नारीव विदग्धमण्डना॥ का० अलं० ३।५८

२. काव्यालंकार (भामह) ३।५-७; काव्यादर्श (दण्डी) २।२-५;
काव्यालंकारसारसंग्रह (उद्भट) ४।२,३,५,७

३. काव्यालंकारसारसंग्रह ४।८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लक्षण अथवा उदाहरण इस तथ्य की ओर निस्सन्देह संकेत करते हैं कि ये आचार्य न केवल ध्वनि अथवा व्यञ्जना-तत्त्व से परिचित थे, अपितु वे इसका अन्तर्भाव उक्त अलंकारों में प्रकारान्तर से करना चाहते थे। निदर्शन के लिए इन तीनों आचार्यों की एक-एक कारिका लीजिए—

१. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथैवाऽनभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥ काव्यालंकार (भामह) २।३४

२. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥ काव्यादर्श २।१८०

३. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनाऽवगमात्मना॥ काव्यालंकारसारसंग्रह ५।६

इन लक्षणों में प्रयुक्त 'गुणसाम्यप्रतीति', 'सादृश्यप्रतीयमान' तथा 'वाच्य और वाचक वृत्तियों से शून्य अवगमात्मकता' आदि प्रयोग यह मानने को वाध्य करते हैं कि उन्हें ध्वनि-तत्त्व को भी अलंकार में अन्तर्भूत करना अभीष्ट था, और यही कारण है कि ध्वनि के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही ध्वनि-विरोधियों में [भाक्त और अनिर्वचनीयतावादियों के अतिरिक्त] अभाववादियों अर्थात् ध्वनि को न मानने वाले अलंकारवादियों का भी खण्डन किया।[1] इसी प्रसंग में उपर्युक्त अलंकारों में से अधिकतर के उदाहरण प्रस्तुत कर[2] आनन्दवर्द्धन ने यह सिद्ध किया कि ध्वनि का विषय इन अलंकारों के विषय से कहीं और आगे है। ध्वनि महाविषयीभूत है, अतः पर्यायोक्त आदि अलंकारों का अन्तर्भाव ध्वनि में ही किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव इनमें।[3]

(घ) दण्डी ने प्रवन्धकाव्य को 'भाविक' अलंकार नाम दिया है। भाविक का व्युत्पत्ति-परक अर्थ है—जिस (काव्य) में कवि का भाव अर्थात् अभिप्राय आसिद्धि (समाप्ति-पर्यन्त) रहे। इसी प्रसंग में दण्डी ने महाकाव्यगत वस्तुपर्वों (आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तु) की पारस्परिक उपकारिता का, तथा स्थानवर्णना अर्थात् प्रकृतोपयोगी विषयों के वर्णन का भी उल्लेख किया है।[4]

(ङ) काव्यशास्त्र से सम्बद्ध उपयुक्त विषयों के अतिरिक्त दण्डी ने नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों को भी 'अलंकार' नाम दिया है। सन्धि, सन्ध्यङ्ग,

---

१. तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्॥ ध्वन्या० १।१

२. हिन्दी ध्वन्यालोक १।१३ वृत्ति (पृष्ठ ५४-७५)

३. विशेष विवरण के लिए देखिए : भारतीय काव्यांग, पृष्ठ ५६-५६

४, काव्यादर्श २।३६४-३६५।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वृत्ति, वृत्त्यङ्ग, लक्षण[1] आदि को वे अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट करने के पक्ष में हैं—

यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ।। का० द० २ । ३६७

काव्यादर्श के प्रख्यात टीकाकार रंगाचार्य रेड्डी के कथनानुसार इनमें से किन्हीं का अन्तर्भाव दण्डी द्वारा स्वीकृत स्वभावाख्यान (स्वभावोक्ति), उपमा आदि अलंकारों में किया जा सकता है, और किन्हीं का भाविक अलंकार में—

तत्र केषांचित् स्वभावाख्यानादौ अन्तर्भावः, केषांचित् भाविके इति यथायथं विषयानुरोधेन ज्ञातव्यम् । (का० द० २।३६७ टीकाभाग)

रंगाचार्य महोदय के वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि ३६ लक्षणों का अन्तर्भाव उपमादि अलंकारों में किया जा सकता है, और सन्धियों, सन्ध्यङ्गों, वृत्तियों और वृत्त्यङ्गों का भाविक में, क्योंकि ये सभी 'वस्तुपर्व' ही तो हैं ।

इस प्रकार गुण, रस, ध्वनि, प्रबन्धकाव्य तथा नाट्यविषयों को ये अलंकारवादी आचार्य, विशेषतः दण्डी, 'अलंकार' नाम से अभिहित करते हैं । अतः इनके मत में केवल अनुप्रास, उपमा आदि ही अलंकार नहीं हैं, अपितु काव्य के वे सभी तत्व अथवा अंग 'अलंकार' कहाते हैं जो काव्य के चमत्कारोत्पादक अथवा सौन्दर्यविधायक हैं ।

निष्कर्षतः अलंकारवादियों को अलंकार का व्यापक अर्थ अभीष्ट है : दण्डी के शब्दों में—काव्यशोभाकर धर्म, और वामन के शब्दों में —[सभी प्रकार का काव्यगत] 'सौन्दर्य' ।

●

इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं—

पहला प्रश्न यह कि भामह, दण्डी और उद्भट के अतिरिक्त क्या अन्य

---

१. (क) सन्धि—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, सावमर्श और संहृति—५

(ख) सन्ध्यङ्ग—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन आदि—६४

(ग) वृत्ति—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती—४

(घ) वृत्त्यङ्ग—नर्मतत्, स्फूर्जतत्, स्फोटतत् और गर्भ इन चारों अगों से युक्त उक्त चारों वृत्तियां । इस प्रकार कुल वृत्त्यङ्ग—१६

(ङ) लक्षण—भूषण, अक्षर-संघात आदि ३६ ।

(देखिए ना० शा० १७।१।४१, सा०द० ६।१७१-१९४)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आचार्य भी अलंकारवादी हैं। इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि किसी भी रूप में नहीं, यहां तक कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णम् अनलंकृती॥ चन्द्रालोक १।१२

—कहने वाले जयदेव भी नहीं। प्रथम कारण यह कि अलंकारवादियों द्वारा प्रतिपादित उक्त धारणाएं जयदेव ने कहीं भी प्रस्तुत नहीं कीं—उन्होंने तो ध्वनि और उसके अन्तर्गत रस का निरूपण स्वतंत्र रूप से किया है, इन्हें 'अलंकार' नाम देकर नहीं। दूसरा कारण यह कि मम्मट के काव्यलक्षण '**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि**' का वास्तविक तात्पर्य जयदेव ने नहीं समझा। 'अनलंकृती'[1] से मम्मट का तात्पर्य 'अलंकार का अभाव' नहीं है, अपितु 'अलंकार का स्फुट रूप में न होना' है—**क्वचितु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।** का०प्र० १।४ वृत्ति। किन्तु जयदेव ने अनलंकृती से 'अलंकार का अभाव' अर्थ समझ कर मम्मट पर व्यर्थ का छींटा छोड़ा है, और यमक के लोभ में पड़ कर उक्त श्लोक का निर्माण कर दिया है। अन्यथा जयदेव के समान मम्मट भी जानते थे कि सौ, सवा सौ अलंकारों के लगभग तीन सौ भेदोपभेदों में से कोई न कोई रूप तो प्रत्येक कवित्वपूर्ण पद्य में प्रायः मिल ही जाता है—हाँ, कहीं वह अस्फुट रूप में भी उपलब्ध होगा, पर इस बारीकी को जयदेव ने नहीं समझा। अस्तु! इधर हिन्दी के आचार्यों में केशवदास को भी अलंकारवादी कहना समुचित नहीं है, वे दण्डी के ग्रन्थ काव्यादर्श के केवल हिन्दी में रूपान्तरकार मात्र हैं, और बस।[2]

दूसरा प्रश्न यह कि भामह, दण्डी और उद्भट—इन अलंकारवादी आचार्यों को क्या अलंकार और अलंकार्य का भेद ज्ञात न था?[3] हमारे विचार में इतना बड़ा 'लाञ्छन' इन पर नहीं लगाया जा सकता। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त दो विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) यदि 'अलंकार्य' शब्द से तात्पर्य काव्य की विषयवस्तु है—जैसा कि कुन्तक ने स्वभावोक्ति' को अलंकार न मानने के प्रसंग में संकेत किया है।[4]—तो निस्सन्देह वे इससे सुपरिचित थे। लौकिक विषयवस्तु को वह

---

१. सगुणौ + अनलंकृती = सगुणावनलंकृती।

२. देखिए: 'क्या केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे?' नामक निबन्ध।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास: रीतिकाल (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ २३३

४. **अलकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।**
अलंकार्यतया तेषां किमन्यद् अवतिष्ठते॥ व० जी० १।११

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तभी काव्य की विषयवस्तु समझते थे जब वह 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) द्वारा सम्बन्धित हो जाए, अन्यथा नहीं।[1] यह धारणा निस्सन्देह इस तथ्य की परिचायक है कि वे आचार्य 'अलंकार्य' के इस तात्पर्य से अवगत थे—यद्यपि इस शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया।

(ख) यदि 'अलंकार्य' शब्द से रस अथवा ध्वनि अभिप्रेत है तो निस्सन्देह वे इस तात्पर्य से अवगत नहीं थे—और वह इसलिए कि अभी 'अलंकार्य' का यह अर्थ निश्चित ही नहीं हुआ था, क्योंकि इस शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही परवर्ती ध्वनि-रसवादी आचार्यों को पड़ी, जिन्होंने अलंकार का स्वरूप ही रस पर आधारित किया—अलंकार द्वारा जो उपकृत (अलंकृत) हो उसे 'अलंकार्य' (अर्थात् 'रस') कहा गया, किन्तु यह इसका लक्ष्यार्थ है, इसका वाच्यार्थ 'तो विषयवस्तु ही है, जिससे तीनों अलंकारवादी आचार्य भलीभाँति परिचित थे। अस्तु !

●

निष्कर्षतः अलंकारवादियों के मत में—

(क) अलंकार व्यापक अर्थ का द्योतक है, संकुचित अर्थ का नहीं। अर्थात् 'अलंकार' काव्यचमत्कारोत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है, केवल अनुप्रास, उपमा आदि का नहीं।

(ख) इस दृष्टि से रस, ध्वनि, गुण, प्रबन्धकाव्य, दृश्यविधान के अंग—ये सभी 'अलंकार' नाम से अभिहित होते हैं।

(ग) और इसी कारण वह काव्य का अनिवार्य साधन है—चाहें तो परवर्ती शब्दावली में कह सकते हैं कि अलंकारवादी आचार्यों को यह स्वीकृत था कि '**अलंकार काव्य की आत्मा है**', यद्यपि उन्होंने इस शब्द का कहीं प्रत्यक्षतः प्रयोग नहीं किया।

२. रीति-सिद्धान्त

रीति-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य वामन हैं, और वही इसके एक मात्र आचार्य हैं, क्योंकि आगे इस सिद्धान्त का अनुगमन नहीं हुआ। उनके

---

१. सर्वैवाऽतिशयोक्तिस्तु। तर्कयेत् तां यथागमम्॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते॥
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः को ऽलंकारोऽनया विना॥
—काव्यालंकार (भामह) २।८४,८५।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कथनानुसार 'विशिष्ट पदरचना' को रीति कहते हैं। उसमें यह विशेषता गुणों के कारण आती है : 'विशेषो गुणात्मा'।[1] इसी सूत्र के आधार पर रीति और गुण में अभेद स्वीकार किया जाता है। गुण दो प्रकार के हैं शब्दगुण और अर्थगुण। इनकी संख्या दश-दश है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के गुणों के नाम भी एक से हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थ-व्यक्ति और कान्ति, तथापि प्रत्येक शब्दगत और अर्थगत गुण के स्वरूप एवं लक्षण में नितान्त अन्तर है।

इन गुणों से विशिष्ट 'रीति' को वामन ने काव्य की 'आत्मा' कहा है। इसके इन्होंने तीन भेद माने हैं—वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली। इनमें से वैदर्भी में सभी गुण विद्यमान रहते है, गौडीया में दो गुण—ओज और कान्ति तथा पाञ्चाली में भी दो गुण—माधुर्य और सौकुमार्य। इन रीतियों में ये गुण शब्दगत रहते हैं, अथवा अर्थगत—इस ओर वामन ने यद्यपि कोई संकेत नहीं किया, किन्तु उनके विवेचन से, और विशेषतः इस मौन से, प्रतीत यही होता है कि उन्हें गुणों के दोनों ही रूपों का सद्भाव इन रीतियों में अभीष्ट है। इनमें से उन्होंने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। कारण स्पष्ट है कि यह रीति 'समग्रगुणा' होती है। इसी रीति की उन्होंने एक अन्य कोटि स्वीकार की है—शुद्धवैदर्भी। यह तभी मानी जाती है जब किसी 'समग्रगुण-परिपूर्ण' रचना में समास का अभाव हो—**साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी**। का०सू० १।२।१६

●

अब मूल प्रश्न पर आते हैं कि वामन 'रीति' नामक तत्त्व को किस आधार पर काव्य की आत्मा मानते हैं? इस समस्या के दो आधार सम्भव हैं—(१) काव्य के अन्य उपादानों को अपने अभीष्ट काव्य-तत्त्व में अन्तर्भूत मानना, अथवा (२) उन उपादानों द्वारा इस तत्त्व की पुष्टि मानना। अलंकारवादियों—विशेषतः दण्डी—ने स्पष्ट शब्दों में प्रथम आधार ग्रहण किया था, किन्तु वामन ने स्वयं इस ओर कोई संकेत नहीं किया। फिर भी यदि 'रीति' को एक स्वतन्त्र काव्यसिद्धान्त माना गया है तो इसका प्रमुख कारण यही है कि 'रीति' के अपर पर्याय 'गुण' के २० भेदों में अन्य कतिपय शास्त्रीय काव्योपादानों का किसी न किसी रूप में अन्तर्भाव किया जा सकता है। मम्मट ने इन्हीं बीस गुणों का खण्डन अनेक रूपों में किया है। उनमें से एक रूप यह

---

१. **विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।**
का० सू० वृ० १।२।७,८।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है कि इनमें से कुछ मम्मट-सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद में अन्तर्भूत होते हैं और कुछ काव्य के अन्य उपादानों में। उदाहरणार्थ —

(१) वामन-सम्मत शब्दगत श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद ये चार गुण मम्मट-सम्मत ओज में अन्तर्भूत होते हैं, और

(२) वामन-सम्मत शब्दगत माधुर्य और अर्थव्यक्ति गुण क्रमशः मम्मट-सम्मत माधुर्य और प्रसाद में।

(३) वामन-सम्मत अर्थगत अर्थव्यक्ति का स्वभावोक्ति अलंकार में अन्तर्भाव हो सकता है, और

(४) अर्थगत कान्ति का रस, ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में।

यदि इस स्थिति को मम्मट के स्थान पर वामन के दृष्टिकोण से सोचें तो कह सकते हैं कि वामन की 'रीति' से सम्बद्ध गुणों में न केवल परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत माधुर्य, ओज और प्रसाद सम्मिलित हैं, अपितु एक ओर स्वभावोक्ति अलंकार, और दूसरी ओर रस के अतिरिक्त ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य भी सम्मिलित हैं। इनमें से गुण और रस के विषय में तो कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि गुण के सम्मिलित न होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता और रस को वामन ने स्पष्ट शब्दों में सम्मिलित किया है—**दीप्तरसत्वं कान्तिः**। शेष रहे तीन उपादान—ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य और स्वभावोक्ति अलंकार। इनमें प्रथम दो रस के साथ सम्बद्ध होने के कारण स्वीकृत किये गये हैं, अतः ये भी मान्य हैं। हाँ, स्वभावोक्ति को मान्य समझने के सम्बन्ध में पर्याप्त खींचतान करनी पड़ेगी, क्योंकि वामन-सम्मत 'अर्थव्यक्ति' और मम्मट-सम्मत 'स्वभावोक्ति' में बहुत निकट का सम्बन्ध नहीं है। अस्तु! यह है प्रथम आधार जिसके बल पर वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की 'आत्मा' माना जा सकता है।

अब दूसरे आधार 'काव्य के अन्य उपादानों द्वारा अपने काव्यतत्त्व की पुष्टि' को लीजिए। हमारे विचार में वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की आत्मा इस आधार पर नहीं माना जा सकता। कारण यह कि वैदर्भी रीति में सब गुणों की, और गौडीया तथा पाञ्चाली में दो-दो गुणों की, स्वीकृति का तात्पर्य यही लिया जा सकता है कि इन गुणों के सम्मिलित अथवा समवेत रूप का नाम ही ये रीतियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, बीस गुणों के इस रूप का अपर नाम 'वैदर्भी' है, और दो-दो गुणों के इस रूप का नाम गौडीया अथवा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पाञ्चाली। [यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन ने रीति और गुण में 'अभेद' स्वीकार किया है।] अतः ये गुण (उपादान) इन रीतियों के पोषक नहीं हैं। अस्तु !

●

इस प्रकार प्रथम आधार पर वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की आत्मा स्वीकृत कर लेने पर कतिपय प्रश्न उपस्थित होते हैं :

पहला प्रश्न यह कि दण्डी के 'वैदर्भ मार्ग' और वामन की 'वैदर्भी रीति' में क्या कोई अन्तर है ? इसका उत्तर है कि हाँ, महान् अन्तर है। दश गुण 'वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं'—दण्डी की इस धारणा का तात्पर्य यह है कि जिस रचना में इनमें से किसी एक गुण की (अथवा किन्हीं दो-तीन गुणों की भी) अवस्थिति हो, वहां वैदर्भ मार्ग की स्वीकृति की जाती है। किन्तु इधर वामन-सम्मत वैदर्भी रीति में बीस गुणों का संयोग—चाहे वह समवाय रूप में हो अथवा समवेत रूप में--अनिवार्य है। वामन के 'रीति-सिद्धान्त' का यही सबसे बड़ा दोष एवं शैथिल्य है। प्रथम तो किसी पद्य में बीस गुणों का संयोग अपने आप में एक असम्भव परिकल्पना है। यदि रीति-सिद्धान्त का पक्षपात लेकर इसे सिद्ध करने का आग्रह किया भी जाए, तो इसके लिए निस्सन्देह अवाञ्छनीय एवं हास्यस्पद सी खींचतान करनी पड़ेगी।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'अलंकार' के सम्बन्ध में वामन का दृष्टिकोण क्या है ? वस्तुतः वामन पर अलंकारवाद का पर्याप्त प्रभाव है। उन्हें दण्डी आदि के समान 'अलंकार' के दोनों अर्थ अभीष्ट हैं—व्यापक भी और संकुचित भी। पहले व्यापक अर्थ को लीजिए। वामन काव्य को 'अलंकार' के कारण ग्राह्य मानते हैं, और अलंकार से उनका अभिप्राय है काव्य का सभी प्रकार का 'सौन्दर्य'[1]—जिसमें रीतिजनित 'सौन्दर्य' भी निस्सन्देह समाविष्ट हो जाता है। इधर वामन को अलंकार का संकुचित अर्थ, अनुप्रास, उपमा आदि भी, अभीष्ट है। इसके दो प्रमाण हैं। पहला यह कि वह इन प्रख्यात अलंकारों को गुणों में अन्तर्भूत करने का कहीं संकेत नहीं करते, वह इन्हें स्वतन्त्र मानते हैं। दण्डी की भी यही स्थिति है। वह भी इन्हें गुणों में अन्तर्भूत नहीं करते। दूसरा प्रमाण यह कि वामन इन्हीं अलंकारों को 'गुण' की अपेक्षा निम्न कोटि का स्वीकार करते हैं। इनके कथनानुसार गुण काव्य के शोभाकारक धर्म हैं तो अलंकार उसी उत्पन्न शोभा के वर्द्धक हेतु हैं। अतः काव्य में गुण की स्थिति नित्य है और

---

१. 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्', 'सौन्दर्यमलंकारः। का० सू० व० १।१।१,२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अलंकार को अनित्य ।[1] दण्डी का दृष्टिकोण भी लगभग यही है । वह गुण को तो वैदर्भ मार्ग का प्राण मानते हैं, किन्तु अलंकारों को नहीं ।[2]

इस प्रकार वामन अलंकार की इन दोनों ही स्थितियों को स्वीकृत करते हुए यदि 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हैं, तो इससे वह अपनी इस मान्यता के बल को कम अवश्य कर लेते हैं। वस्तुतः वामन अलंकारवाद से इतना अधिक प्रभावित थे कि वह न तो इस वाद का खण्डन कर सके, न अनुप्रास उपमा आदि अलंकारों को अपनी 'रीति' में अन्तर्भूत कर सके, और न इन्हें 'रीति' के पोषक रूप में ही स्वीकृत कर सके। फिर भी, यदि इन्होंने रीति को 'आत्मा' पद से गौरवान्वित किया तो केवल इसी आधार पर कि वह अलंकारवादियों की अपेक्षा काव्य के बाह्य रूप को कहीं अधिक चमत्कृत करने के पक्ष में थे। उनके शब्दगुणों की [और अधिकतर अर्थगुणों की भी] परिभाषाओं की तुलना दण्डि-प्रस्तुत गुणों की परिभाषाओं से करने पर इसी तथ्य की पुष्टि हो जाएगी। उनका यह बाह्य रूप चकाचौंध मात्र न होकर स्थायी उज्ज्वलता का द्योतक है। इसका एक प्रमाण यह है कि इन्होंने शब्दगुण के अतिरिक्त अर्थगुण भी माने हैं, और दूसरा प्रमाण यह कि उनकी दृष्टि में ये गुण केवल 'पाठ' अर्थात् शब्द-रचना के धर्ममात्र नहीं हैं, क्योंकि सभी प्रकार की रचनाओं में वे दिखायी नहीं देते। ये विशिष्टता की अपेक्षा रखते हैं—

'न पाठधर्माः, सर्वत्राऽदृष्टेः ।' विशेषापेक्षया । का०सू०वृ० ३।१।२८

●

निष्कर्षतः वामन अलंकारवादियों के सिद्धान्तों को अधिकांशतः स्वीकृत करते हुए भी यह मानते थे कि 'रीति काव्य की आत्मा' है। यह उनकी गुण-ग्राहकता और शिथिलता दोनों का द्योतक है। किन्तु हाँ, अलंकारवादियों की अपेक्षा काव्य के बाह्य पक्ष पर वास्तविक बल देने का तो यह द्योतक है ही।

३. ध्वनि-सिद्धान्त

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक[3] आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' को स्पष्ट शब्दों में

---

१. (क) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।
(ख) तदतिशयहेतवस्तु अलंकाराः ।
(ग) पूर्वे नित्याः । का० सू० वृ० ३।१।१,२,३

२. काव्यादर्श १।४२, २।३।

३. यद्यपि ध्वनि-तत्त्व किसी न किसी रूप में आनन्दवर्द्धन से पहले भी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

काव्य की आत्मा के रूप में घोषित करते हुए कहा कि उनसे पूर्व भी विद्वानों द्वारा यही मान्यता स्वीकृत की गयी थी—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ।[1] ध्वन्या० १।१

ध्वनि कहते हैं उस प्रतीयमान अथवा व्यंग्य अर्थ को जिसे अर्थ (वाच्यार्थ) अपने आप को और शब्द अपने अर्थ (वाच्यार्थ) को गौण बना कर अभिव्यक्त करते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ ध्वन्या ० १।१३

इनसे पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया जा चुका था। अपने मत की पुष्टि के लिए आनन्दवर्द्धन ने प्राचीन शास्त्रीय परिपाटी का अनुकरण करते हुए लक्षणा शब्दशक्ति के अतिरिक्त[2] इन दोनों तत्त्वों का भी खण्डन किया। पहले अलंकार-तत्त्व को लीजिये। भामह आदि अलंकारवादियों के समर्थकों की ओर से कहा जा सकता है कि 'अलंकार' नामक तत्त्व की स्वीकृति किये जाने पर 'ध्वनि' नामक तत्त्व की आवश्यकता ही नहीं है—'तस्याऽभावं जगदुरपरे', क्योंकि भामह-प्रस्तुत प्रतिवस्तूपमा; दण्डि प्रस्तुत व्यतिरेक; भामह, दण्डी और उद्भट द्वारा प्रस्तुत पर्यायोक्ति आदि अलंकारों में ध्वनि-तत्त्व के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं। इसी प्रकार अलंकार-व्यंग्य को भी 'ध्वनि' न मान कर 'अलंकार' ही माना जा सकता है। आनन्दवर्द्धन ने इनका खण्डन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उक्त प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति होने पर भी उसका प्रधान रूप से कथन नहीं होता, उनमें प्रधान चमत्कार तो अलंकार-तत्त्व का ही

विद्यमान था, किन्तु वह अविदित-सदृश था। स्वयं आचार्य का निम्नोक्त कथन अवलोकनीय है—

विमतिविषयो यः आसीन् मनीषिणां सततमविदितसतत्वः ।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ॥ ध्वन्या० ३।३४

१. इसी प्रकार—

(क) योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः । ध्वन्या० १।२

(ख) काव्यस्यात्मा स एवार्थः .... ।

(विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य स एवाऽर्थः सारभूतः ।)

—वही, १।५ तथा वृत्ति ।

२. ध्वन्यालोक १।१४-१८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रहता है। अतः इन्हें 'ध्वनि' न कह कर अलंकार कहना चाहिए।[1] हाँ, व्यंग्यांश-समन्वित इन पर्यायोक्ति आदि अलंकारों का चमत्कार अन्य वाच्यालंकारों—उपमा, रूपक आदि की तुलना में कहीं अधिक बढ़ जाता है।[2] और, यदि कहीं इन अलंकारों के उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो भी तो उन्हें इन अलंकारों के स्थान पर 'ध्वनि' का ही उदाहरण माना जाएगा।[3] वस्तुतः ध्वनि अंगी है और अलंकार, गुण और वृत्तियां उसके अंग हैं।[4] निष्कर्ष रूप में अलंकार के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन का मन्तव्य है कि अलंकार उन्हें कहते हैं जो शब्द और अर्थ के आश्रित रह कर कटक, कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ रूप शरीर के शोभाजनक) हैं,[5] और इनकी यह स्थिति बाह्यपरक है। अतः इनके अन्तराल में 'ध्वनि' को—जो कि मूलतः एक आन्तरिक तत्त्व है—समाविष्ट नहीं माना जा सकता।

'अलंकार' के अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' का भी खण्डन किया। 'रीति' को इन्होंने 'संघटना' नाम देते हुए कहा कि वह गुणों पर आश्रित रह

---

१. अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नाऽसौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥
यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः।
—ध्वन्या २।२७ तथा वृत्ति।

२.(क) शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥—वही, २।२८।
(ख) वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां विभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥ —वही, ३।३७

३. यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यंग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः। —वही, पृ० १९३

४. काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलंकाराः गुणाः वृत्तयश्च। —हिन्दी ध्वन्या० पृष्ठ ७४।
विशेष विवरण के लिए देखिए—
(क) ध्वन्यालोक १।१३, २।२७ वृत्तिभाग,
(ख) भारतीय काव्यांग, पृष्ठ ५७-५९

५. अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।
(वाच्यवाचकलक्षणानि अङ्गानि) —ध्वन्या० २।६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कर रसों की अभिव्यक्ति करती है—

> गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
> रसान्..॥ ध्वन्या० ३।६

इसका तात्पर्य यह कि आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में रीति की सिद्धि इसी में है कि वह रस की अभिव्यक्ति में सहयोग दे और यह भी साक्षात् रूप से नहीं, एक पग और पीछे—गुणों के आश्रित रह कर, तथा यह भी उस 'रस' की अभिव्यक्ति में जो स्वयं ध्वनि पर आश्रित है, उसका एक प्रभेद मात्र है ।[1] आनन्दवर्द्धन रीति को केवल घटना (रचना-प्रकार) मात्र मानते हैं । स्वयं वामन भी मूलतः इसे एक बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि आनन्दवर्द्धन ने यदि समास के सद्भाव और असद्भाव को रीति के स्वरूप-निर्देश में स्थान दिया तो यही दिशा वामन ने भी अपनायी थी । स्पष्ट है कि समास-निर्देश बाह्य तत्त्व का ही सूचक है । आनन्दवर्द्धन के इसी दृष्टिकोण का परिपालन उनके अनुयायी परवर्ती आचार्यों द्वारा भी किया गया, परिणामतः विश्वनाथ के शब्दों में रीति अपने 'आत्मपद' से च्युत होकर 'अंगसंस्थान' मात्र बन कर रह गयी ।[2] निष्कर्षतः, आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' को केवल मात्र एक बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे 'आत्मा' मानने वाले वामन का खण्डन किया है, और उनके सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि वह अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले अर्थात् ध्वनि जैसे आन्तरिक काव्य-तत्त्व की व्याख्या करने में नितान्त असमर्थ थे—

> अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।
> अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ध्वन्या० ३।४७

●

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-तत्त्व से पूर्ववर्ती उक्त दोनों तत्त्वों का खण्डन उनके प्रति अपनी मान्यताओं के आधार पर किया—'अलंकार' को आभूषक मात्र मानते हुए, तथा 'रीति' को एक संघटना (रचना-प्रकार) मात्र । किन्तु इससे इनके प्रवर्त्तक आचार्यों के प्रति निस्सन्देह यथोचित न्याय नहीं हुआ । वस्तुतः इनका खण्डन उन्हीं के समान इन दोनों तत्त्वों का व्यापक अर्थ लेकर ही

---

१. 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' नामक ध्वनि-भेद का दूसरा नाम 'रस' है ।

२. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ॥ सा०द० ९।१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करना चाहिए था, न कि केवल अपनी मान्यतानुसार उनका सीमित अर्थ लेकर। आनन्दवर्द्धन के इस शैथिल्य का, अथवा यों कहिए एक प्रकार की न्यूनता का, आनन्दवर्द्धन की ही ओर से उत्तर भी दिया जा सकता है कि यदि वे पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार एवं रीति-विषयक व्यापक दृष्टिकोण को ही अपनाते तो भी परिणाम वही निकलता कि ये दोनों तत्त्व मूलतः बाह्यपरक हैं, और इनके इसी बाह्य स्वरूप का ही इन्होंने अपनी मान्यताओं में स्पष्टतः उल्लेख किया है। इधर इसके विपरीत ये स्वसम्मत 'ध्वनि' को नितान्त आन्तरिक काव्यतत्त्व स्वीकार करते हुए काव्य की आत्मा घोषित करते हैं, और वस्तुतः इसे इस महनीय पद पर आसीन करने के लिए केवल यही एक प्रबल तर्क पर्याप्त है। अनेक स्थलों पर इन्होंने इस तथ्य को उद्घोषित किया है—

(क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
ध्वन्या० १।४

(ख) मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥[1] ध्वन्या० ३।३८

निस्सन्देह यही प्रतीयमानार्थ (व्यंग्यार्थ, ध्वनि) ही अलंकार और रीति जैसे बाह्यपरक उपादानों की तुलना में 'आत्मा' जैसे आन्तरिक तत्त्व से सम्मानित किये जाने का कहीं अधिक अधिकारी है। अस्तु!

●

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने काव्य के विविध चमत्कार को ध्वनि पर आधारित मानते हुए अपनी उक्त मान्यता की परिपुष्टि की है। ध्वनि के तारतम्य के अनुरूप इन्होंने काव्य के तीन रूप स्वीकृत किये हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। ध्वनि के प्रमुख भेद पांच हैं और गुणीभूतव्यंग्य के आठ। फिर इनके अनेक उपभेद हैं, जो पदांश, पद, वाक्य से लेकर प्रबन्धगतता

---

१. (क) जिस प्रकार नारियों का लावण्य उनके [मुख, नेत्र, केश आदि] अवयवों से विभिन्न होता है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणियों में प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही होता है।

(ख) जिस प्रकार [कटक, कुण्डल आदि] आभूषणों से सजी होने पर भी नारियों का मुख्य भूषण लज्जा है, उसी प्रकार (अनुप्रास, उपमा आदि) अलंकारों से युक्त भी महाकवियों की वाणी का मुख्य भूषण व्यंग्यार्थ का संस्पर्श ही है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तक फैले हुए हैं। इस तरह इन दोनों काव्यतत्त्वों के भेदोपभेदों में प्रत्येक प्रकार का काव्यसौन्दर्य अन्तर्भूत किया जा सकता है। स्वयं आनन्दवर्द्धन के शब्दों में, इनके सम्पर्क से वाणी अभिनवता और समृद्धि को प्राप्त कर लेती है।[1] ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' है जो रस, रसाभास, भावाभास आदि का पर्याय है।[2] गुणीभूतव्यंग्य के एक भेद 'अपरस्यांग' से अभिप्राय है रसवद् आदि अलंकारों का चमत्कार।[3] इधर 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत माधुर्य आदि गुणों और उससे सम्बद्ध रीतियों के अतिरिक्त सभी अलंकारों का चमत्कार सन्निहित है।[4] इसका तात्पर्य यह कि गुण और अलंकार भी आनन्दवर्द्धन के अनुसार व्यंग्य-रहित नहीं होते, उनमें भी व्यंग्य की सत्ता रहती है, किन्तु अस्फुट रूप से।[5] निष्कर्षतः, आनन्दवर्द्धन के अनुसार सभी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य में ध्वनितत्त्व—प्रमुख, गौण अथवा अस्फुट रूपों में से—किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। इसीलिए भी ध्वनि को 'काव्य की आत्मा' माना गया है।

इस सम्बन्ध में एक तीसरा कारण और भी उल्लेखनीय है। आनन्दवर्द्धन और उनके अनुकरण में मम्मट तथा विश्वनाथ ने अलंकार, गुण, रीति और यहां तक कि दोष का भी स्वरूप ध्वनि के सर्वोत्कृष्ट भेद 'रस' पर निर्धारित किया है।[6]

---

१. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ॥ ध्वन्या० ४।६

२. ध्वन्या० २।३

३. वही, २।५, का०प्र०५ म उ०, पद्य सं० ११६-१२५

४. चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। का० प्र०, १।१५

५. अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। का०प्र० १।४

६. (क) ध्वन्या० २।६, का०प्र० ८।६७, सा०द० १०।१
(ख) ध्वन्या० २।६, का० प्र० ८।६६, सा०द० ८।१
(ग) का०प्र० ६।१०५ वृत्ति, (घ) का०प्र० ७।४६, सा० द० ७।१

उदाहरणार्थ—

(क) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ सा० द० १०।१

(ख) रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः × × × × × ॥ सा०द० ८।१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार इन उपर्युक्त तीनों कारणों के आधार पर आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि काव्य की आत्मा है' यह घोषित करते हुए अन्य काव्यांगों की सत्ता स्वीकार की, तथा इन्हें ध्वनि से सम्बद्ध करते हुए इनकी वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

४. वक्रोक्ति-सिद्धान्त

'काव्य की आत्मा' के प्रसंग में अग्रिम उल्लेखनीय काव्य-तत्त्व है—वक्रोक्ति, जिसे कुन्तक ने काव्य का जीवित (आत्मा) स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ को इसी मान्यता के आधार पर 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से अभिहित किया, तथा 'विचित्र' नामक मार्ग के प्रसंग में 'वक्रोक्ति' के वैचित्र्य को 'जीवित' शब्द से संकेतित किया।[1] 'वक्रोक्ति' कहते है—वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति'[2] अर्थात् कविकर्मकौशल से उत्पन्न वैचित्र्य-पूर्ण कथन को। दूसरे शब्दों में, जो काव्यतत्त्व किसी कथन में लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे, उसका नाम वक्रोक्ति है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि लोक-वार्ता से, यों कहिये लौकिक सामान्य वचन से, विशिष्ट कथन 'वक्रोक्ति' के अन्तर्गत आ सकता है।

कुन्तक से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' तथा 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया चुका था, तथा भरत और आनन्दवर्द्धन द्वारा रस का स्वरूप अधिकांशतः व्यवस्थित हो चुका था। कुन्तक स्वयं इन चारों काव्य-तत्त्वों से पूर्णतया परिचित थे। इनमें से वामन-सम्मत रीति को निस्सार वस्तु समझ कर इन्होंने इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना समुचित नहीं समझा।[4] शेष तीन काव्य-तत्त्वों को उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति

(ग) पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ×। सा० द० ९।१

(घ) रसापकर्षका दोषाः × × ×॥ सा० द० ७।१

१. विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरन्ति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाऽभिधा॥ १।४२

२. वक्रोक्तिरेव यत्र वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते। १।१०

३. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। १।५

४. तदलमनेन निस्सारवस्तुपरिमलव्यसनेन।
—हि०व० जी० (पृ०१०१) १।२४ वृत्ति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से सम्बद्ध अथवा इसी में अन्तर्भूत स्वीकृत करते हुए भी कहीं इनका खण्डन नहीं किया। अलंकार के प्रति उनका दृष्टिकोण यद्यपि भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अलंकारवादियों के समान न होकर अधिकांशतः आनन्दवर्द्धन के समान ही है[1], किन्तु वे उनके द्वारा प्रतिपादित अलंकार के 'व्यापक' अर्थ को भुला नहीं सके : 'काव्यता [तो] सालंकार [वचन] की होती है, यह एक तत्त्व है'—**तत्त्वं, सालंकारस्य काव्यता** (१।६), और इसी धारणा के वशीभूत होकर ही मानो वे वक्रोक्ति को एक 'अपूर्व अलंकार' की संज्ञा दे रहे हैं : **काव्यस्याऽयमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते** (१।२)। ठीक इसी प्रकार इसी प्रसंग के आसपास ही उन्होंने वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है—**विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते** (१।१० वृत्ति)। 'विचित्रा' अभिधा से उनका तात्पर्य ध्वनि से ही है।[2] इस प्रकार एक ओर वक्रोक्ति को 'अलंकार' कहना, और दूसरी ओर प्रकारान्तर से 'ध्वनि' कहना, कुन्तक की इन दोनों सिद्धान्तों के प्रति, विशेषतः ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति, मान्यता एवं समादर-भावना का सूचक है।[3]

---

१. तुलनार्थ : 'विचित्र' नामक काव्यमार्ग के स्वरूपनिर्देश के प्रसंग में कुन्तक की निम्नोक्त दो कारिकाएं—

(क) रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते॥

(ख) यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलङ्कार्यं प्रकाश्यते॥ व०जी० १।३६,३७

२. क्योंकि 'वाचक' शब्द से उनका अभिप्राय केवल द्योतक शब्द नहीं है, अपितु उपचार द्वारा व्यञ्जक शब्द भी है। इसी प्रकार वाच्यार्थ से उनका अभिप्राय द्योत्य अर्थ के अतिरिक्त व्यंग्य अर्थ से भी है—

ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः। तदसंग्रहान्नाऽव्याप्तिः। यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्याद् उपचारात् तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्याद् उपचाराद् वाच्यत्वमेव। व०जी० १।८ वृत्ति

३. अपने ग्रन्थ में उन्होंने अनेक स्थलों पर ध्वनि का स्पष्ट निर्देश किया है। उदाहरणार्थ—

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्॥ व० जी० १।४०

उन्होंने उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों के प्रतीयमान नामक भेद स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण और उदाहरण में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शेष रहा चौथा काव्य-तत्त्व—रस, इसे तो उन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ में यत्र-तत्र अनुस्यूत किया है।[1]

इस प्रकार 'रीति' को छोड़ कर शेष तीनों काव्य-तत्त्वों—अलंकार, ध्वनि और रस के प्रति उन्होंने यद्यपि उदार दृष्टिकोण रखा है, किन्तु हैं वह मूलतः 'वक्रोक्तिवादी' ही, और इस मान्यता का एक मात्र कारण पूर्व निर्दिष्ट ही है कि वे लौकिक (एवं शास्त्रीय) वार्ता से उच्च भावभूमि पर अवस्थित प्रत्येक उक्ति को 'वक्रोक्ति' नाम से अभिहित करते हैं, और इसी के ही फलस्वरूप इन्होंने इसके अनेक भेदोपभेद करते हुए प्रकारान्तर से सभी काव्य-तत्त्वों को इसी में अन्तर्भूत किया है, जिनका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

उन्होंने वक्रोक्ति के पहले ६ प्रमुख भेद गिनाये हैं—(१) वर्णविन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता (मूल शब्द की वक्रता), (३) पदपरार्ध-वक्रता (प्रत्यय आदि की वक्रता), (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। (व० जी० १।१८-२१)। इनमें से दूसरे, तीसरे, पांचवें और छठे भेदों के क्रमशः ८, ६, ८, ६, भेद हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति कुल मिलाकर २८+२=३० प्रकार की हुई। ये सभी सौन्दर्य-प्रकार, यों कहिये वक्रोक्तियां, अकेले-अकेले रूप में भी काव्य-चमत्कार उत्पन्न करती हैं, तथा एक से अधिक रूप में मिल कर भी। दूसरी स्थिति में काव्य की शोभा कहीं अधिक वढ़ जाती है—

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकाराः जनयन्त्येतां चित्रच्छाया मनोहरम्॥ व० जी० २।३४

कुन्तक के मत गें इन्हीं भेदोपभेदों के अन्तर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौन्दर्य—चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक—समाविष्ट हो जाता है। कतिपय उदाहरण लीजिए:—

(क) अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का चमत्कार वर्णविन्यास-वक्रता है।

उन्होंने अलंकारवादी आचार्यों के समान इसी में ही व्यंग्यार्थ के समावेश की सूचना प्रकारान्तर से दी है (व०जी० ३।२४ तथा वृत्ति)। इसके अतिरिक्त परिवृत्ति अलंकार को तो उन्होंने अलंकार न मानकर अलंकार्य ही माना है। (भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, पृ० ३२४)

१ देखिये व० ज० २।३३,३५; ३।५,४६; [illegible],१०,१६,१७,२०,२१।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(ख) उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों का चमत्कार वाक्य-वक्रता है।

(ग) परिकर और इसके सदृश अलंकारों का चमत्कार पर्याय-वक्रता [नामक पदपूर्वार्द्ध-वक्रता] है।

(घ) पदगत ध्वनि का शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यंग्य नामक भेद पर्याय-वक्रता के अन्तर्गत आ जाता है।

(ङ) लक्षणामूला ध्वनि के दोनों भेदों—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि को रूढिवैचित्र्यवक्रता [नामक पदपूर्वार्द्धवक्रता] के अन्तर्गत माना जा सकता है।

(च) ध्वनि के प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग और निपातगत उपभेद पद परार्धगत और पदगत वक्रता में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(छ) वाक्यगत ध्वनि वाक्य-वक्रता के समीप है, और

(ज) प्रबन्धगत ध्वनि प्रबन्ध-वक्रता के।

(झ) रुय्यक के कथनानुसार ध्वनि का अधिकतर प्रपञ्च उपचार-वक्रत [नामक पद-पूर्वार्द्ध वक्रता] के अन्तर्गत आ जाता है : **उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः।** (अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ१०)

•

इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति अधिकतर काव्यांगों और काव्य-तत्त्वों को अपने विशाल अन्तराल में समाविष्ट किये है, और इसका आधार है उक्ति की वक्रता अर्थात् विच्छित्ति। किन्तु इनके विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि 'वक्रोक्ति' केवल बाह्य तत्त्व है अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व। कहीं वे इसे [वामन के समान] बाह्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं—न केवल स्थूल प्रसंगों में अपितु सूक्ष्म प्रसंगों में भी, और कहीं आनन्दवर्द्धन के समान आन्तरिक रूप में, अन्तर केवल नाम का ही है—आनन्द जिसे 'ध्वनि' कहते हैं कुन्तक उसे 'वक्रोक्ति' कह देते हैं। इस प्रकार हमारे सम्मुख वक्रोक्ति के ये दोनों रूप उपस्थित होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य के भी दो रूप हैं (क) स्थूल प्रसंगों को बाह्य मानना, और (ख) सूक्ष्म प्रसंगों को बाह्य मानना।

(क) बाह्य रूप

जहां तक स्थूल प्रसंगों को बाह्यरूपात्मिका वक्रोक्ति नाम देने का प्रश्न है, वह निस्सन्देह स्वीकार्य है—शब्दालंकारों को 'वर्णविन्यास-वक्रता' के अन्तर्गत और अर्थालंकारों को 'वाक्यवक्रता' के अन्तर्गत निरूपित करना कुन्तक की

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दृष्टि से नितान्त संगत है, किन्तु सूक्ष्म प्रसंगों को बाह्यरूपात्मिका वक्रोक्ति नाम देना अत्यन्त असंगत और कभी-कभी तो हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। उदाहरण लीजिए—

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।

—ध्वन्या० पृष्ठ ६६, व० जी० पृष्ठ १६७

इस पद में 'राम' शब्द का गृहीत अर्थ आनन्दवर्द्धन और कुन्तक दोनों को एक ही अभीष्ट है—सकलदुःख-सहिष्णु। आनन्दवर्द्धन ने इसे अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि का उदाहरण माना है, किन्तु कुन्तक ने पदपूर्वार्द्ध-वक्रता का, क्योंकि 'रामः' पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रातिपदिक 'राम' के ही कारण काव्य-चमत्कार है, इसके प्रत्यय (सु=:) के कारण नहीं। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य—

तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

—ध्वन्या० २।१ वृत्ति, व० जी० २।६ (वृत्ति)

(अर्थात्, जब सहृदयों द्वारा गुणग्रहण किये जाते हैं तभी वे गुण होते हैं। जैसे सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होने पर ही कमल 'कमल' होते हैं।)—में दूसरे 'कमलानि' पद का गृहीत अर्थ है—सौन्दर्यादि विशेष गुणों से युक्त, और यही अर्थ आनन्द और कुन्तक दोनों को अभीष्ट है। आनन्द यहाँ अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि मानते हैं, और कुन्तक पदपूर्वार्द्ध-वक्रता।

अब एक अन्य प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत है—

समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लंघ्याः॥

—ध्वन्या० ३।१६ (वृत्ति), व० जी० २।६५ (पद्य)

(वर्षाकाल के कारण मार्ग तुरन्त अगम्य 'हो जायेंगे'—बेचारे विरही जन भविष्य की कल्पना करते हुए अभी से व्यथित हो उठे हैं।) आनन्द कहते हैं यहां काल-व्यञ्जक असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य [विप्रलम्भ शृंगार] है, किन्तु कुन्तक कहते हैं यहां 'भविष्यन्ति' के 'स्य' प्रत्यय के कारण वक्रोक्ति (काव्य-चमत्कार) है, अतः यहां प्रत्यय-वक्रता है।

इन और इस प्रकार के अन्य उदाहरणों और उनके समन्वय से प्रतीत होता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति बाह्यात्मिका है, और इसी आधार पर उन्होंने 'रूपक-व्यङ्ग्य', 'उत्प्रेक्षा-व्यङ्ग्य' और 'व्यतिरेक-व्यङ्ग्य' के उदाहरणों को भी क्रमशः रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक नामक [वाच्य] अलंकारों के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करके विषय को अव्यवस्थित सा कर दिया है—

'हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रवाली प्रिये ! तुम्हारे कान्ति-समुज्ज्वल मुख के मन्द-मुस्कान से युक्त होने पर भी इस समुद्र में तनिक भी चञ्चलता दिखायी नहीं देती, प्रतीत होता है कि यह निरा जलसमूह मात्र ही है ।'[1] इस पद्यार्थ से अभिप्रेत यह है कि 'मुख चन्द्रमा है', आनन्दवर्द्धन को यहां रूपक अलंकार-व्यङ्ग्य[2] रूप में मानना अभीष्ट है, किन्तु कुन्तक उन्हीं के प्रभावस्वरूप इसे 'प्रतीयमान रूपक' का उदाहरण मानते हुए भी रूपक के अन्य वाच्यगत उदाहरणों के समान 'वाक्यवक्रता' का ही चमत्कार स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥

—ध्वन्या० २।२७ वृत्ति, व०जी० ३।९४ (पद्य)

(अर्थात्, चन्दनवृक्ष में लिपटे हुए सांपों की निःश्वास-वायु से मूर्च्छित (प्रवृद्ध) यह मलयानिल वसन्त ऋतु में पथिकों को मूर्च्छित करती है ।) इस पद्य में आनन्द ने उत्प्रेक्षा-ध्वनि स्वीकार की है और कुन्तक ने इसे (वाच्य) उत्प्रेक्षा का ही एक भेद मानते हुए इसे 'वाक्यवक्रता' के अन्तर्गत रखा है । यहां 'व्यंग्यार्थता' अथवा 'वक्रता' यह है कि यद्यपि वसन्त ऋतु में मलयानिल के स्पर्श द्वारा विरहीजनों का मूर्च्छित हो जाना वर्णित किया जाता है, किन्तु यहां उत्प्रेक्षा यह की गयी है कि मानो मलयानिल इसी कारण विरहीजनों को मूर्च्छित कर रहा है कि वह स्वयं सर्पों की फुंकार से मूर्च्छित (प्रवृद्ध) है ।

(ख) आन्तरिक रूप—

उक्त सभी स्थूल एवं सूक्ष्म—यों कहिए क्रमशः संगत एवं असंगत—प्रसंगों को देखने से एक सुविज्ञ भी पाठक को आपाततः यही प्रतीत होता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति बाह्य-रूपात्मिका ही है, किन्तु कहीं वे आनन्दवर्द्धन-प्रस्तुत ध्वनि के उदाहरणों को जो निस्सन्देह आन्तरिक तत्त्व को ही प्रस्तुत

---

१. लावण्यकान्तपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे सरसायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

—ध्वन्या ० २।२७ (वृत्ति), व०जी० ३।७९ (पद्य)

२. अलंकारगत-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-विवक्षितान्यपरवाच्य-(लक्षणामूला-) ध्वनिः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करते हैं यथावत् स्वीकार करते हुए भी 'ध्वनि' के स्थान पर 'वक्रता' शब्द का प्रयोग कर देते हैं—

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥ व०जी० २।१३(वृत्ति)

(अर्थात्, यह अन्धेरी रात्रियाँ जिनमें आकाश पर मत्त मेघ छाये हैं और चन्द्रमा निरहंकार (गर्वरहित) हो गया है ×××× मन को हरण कर लेती है ।) यहाँ मेघों को 'मत्त' कहने से तात्पर्य है कि वे अति सघन होकर उमड़-घुमड़ रहे हैं, और चन्द्रमा को 'निरहंकार' कहने से तात्पर्य है कि उसका प्रकाश क्षीण पड़ गया है । आनन्दवर्द्धन के अनुसार इन दोनों पदों में अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि का चमत्कार है, और कुन्तक के अनुसार 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' के 'उपचारवक्रता' नामक एक उपभेद का । निस्सन्देह यहाँ 'मत्त' और 'निहंकार' शब्दों का आन्तरिक चमत्कार ही दोनों आचार्यों को अभीष्ट है, न कि इनका मुख्यार्थ, किन्तु एक आचार्य इसे 'ध्वनि' कहते हैं, और दूसरे आचार्य वक्रता । इसी प्रकार—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥
—ध्वन्या० ३।१६ (वृत्ति) व०जी० २ । १०६ (पद्य)

(अर्थात्, उधर प्रियतमा का दुःसह वियोग और इधर नये-नये बादलों के उमड़ आने पर धूप रहित दिन—यह दोनों एक-साथ आ पड़े हैं ।) इस पद्य में 'और' (च) नामक निपात [अर्थात् अव्यय[1]] द्वारा समुत्पन्न काव्य-चमत्कार के कारण आनन्द ने 'निपातगत-ध्वनि'[2] स्वीकार की है, और कुन्तक ने 'निपातगत-पदवक्रता' ।[3] निस्सन्देह दोनों आचार्यों को अभीष्ट तो 'निपात' का

१. 'निपातमव्ययः' (अष्टाध्यायी)

२. निपातगत-असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-विवक्षितान्यपरवाच्य-(लक्षणामूला)-ध्वनि ।

इसी प्रकार—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाऽभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न तु चुम्बितम् ॥
—ध्वन्या० ३।१६ वृत्ति, व० जी० २।३३ (पद्य)

३. यहां 'तु' निपात से पश्चाताप व्यन्जित होता है । आनन्द यहां 'निपात-ध्वनि' स्वीकृत करते हैं और कुन्तक 'निपात-वक्रता' ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चमत्कार है जो कि स्वयं आन्तरिक है। आनन्द इसी चमत्कार को 'ध्वनि' कहते हैं और कुन्तक 'वक्रता'। उक्त दोनों उदाहरणों में आनन्द की 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि' और 'निपातध्वनि' निस्सन्देह आन्तरिक हैं, पर कुन्तक की 'उपचारवक्रता' और 'निपातवक्रता' आन्तरिक होती हुई भी क्रमशः पदपूर्वार्द्धवक्रता और पदवक्रता के ही उपभेद हैं, जोकि स्वतः बाह्यपरकता की सूचक हैं।

●

इस प्रकार हमने देखा कि जिस प्रकार 'ध्वनि' के सम्बन्ध में दृढ़ता-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि वह अपने आप में अनिवार्यतः और सम्पूर्णतः एक आन्तरिक तत्त्व है, अलंकार, रीति आदि बाह्यपरक तत्त्व इसी के परिपोषक रूप में ही स्वीकृत हैं, उसी प्रकार वक्रोक्ति के सम्बन्ध में दृढ़तापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह केवल बाह्य अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व है।

वक्रोक्ति के उपभेदों पर एक सरसरी-सी दृष्टि डाल देने से भी इस कथन की पुष्टि हो जाएगी, उदाहरणार्थ—पदपूर्वार्द्धवक्रता के ८ उपभेदों में से रूढिवैचित्र्यवक्रता और उपचारवक्रता तो आन्तरिक तत्त्व के सूचक हैं और शेष ६ उपभेद बाह्य तत्त्व के। किन्तु फिर भी यदि समग्र रूप में वक्रोक्ति के सम्बन्ध में इस दृष्टि से विचार करें तो स्पष्टतः ज्ञात होता है कि उसके बाह्य पक्ष का पलड़ा उसके आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक भारी है। किन्तु ऐसा मानते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि 'वक्रोक्ति तत्त्व' की यह बाह्यपरकता भामह आदि के 'अलंकार-तत्त्व' और वामन के 'रीति-तत्त्व' इन दोनों की अपेक्षा अनेक रूपों से निराली है। कुन्तक का दृष्टिकोण इन आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। वक्रोक्ति के ३० उपभेद, इन उपभेदों में प्रायः सभी स्वीकृत काव्यतत्त्वों की समाहिति, अलंकार के प्रति कुन्तक का दोहरा दृष्टिकोण, रस के प्रति उनका आग्रहपूर्ण समादर, और ध्वनि तथा इसके भेदोपभेदों की प्रकारान्तर से स्वीकृति—ये सभी तथ्य इस वास्तविकता के सूचक हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की यह बाह्यपरकता अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त की बाह्यपरकता की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है, और कुन्तक द्वारा यही व्यापक एवं विशिष्ट बाह्यरूपात्मिका 'वक्रोक्ति' काव्य की आत्मा के रूप में घोषित की गयी थी।

५. रससिद्धान्त

काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस को मिला उतना किसी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अन्य काव्य-तत्त्व को नहीं। भरत को रस-तत्त्व का प्रवर्तक समझा जाता है। उन्होंने इसे नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया,[1] तथा कतिपय काव्य-तत्त्वों—अलंकार, गुण, दोष—के रस-संश्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला।[2] अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्त्व' के रूप में स्वीकृत किया।[3] भामह के अनुसार कटु ओषधि के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।[4] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा इसकी यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।[5] दण्डी के 'माधुर्य' गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहाता है जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में रससेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है।[6] इसके अतिरिक्त रुद्रट ने भी, जो एक ओर अलंकार-सिद्धान्त से और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित थे, रस को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना।[7] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पांचाली

---

१. (क) एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना०,शा० १।११०
(ख) बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ वही, १७।१२३

२. एवमेते ह्यलंकाराः गुणाः दोषाश्च कीर्तिता।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रयम्॥ वही १७।१०८

३. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ० १।२१
(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्। का० द० १।१८

४. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ का० अ० ५।३

५. मधुरं रसवद् वाचि, वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० द० १।५१

६. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० द० १।६२

७. काव्यालंकार १६।१,५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नामक रीतियों और मधुरा, ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया,[1] शृङ्गार रस का प्राधान्य स्वीकार किया,[2] तथा कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।[3]

अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद—असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यध्वनि नाम से स्वीकृत करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया। कतिपय प्रमाण लीजिए :

—वाच्यार्थों की बहुविध रचना रस के आश्रय से सुशोभित होती है।[4]

—यों तो व्यंग्यार्थ (ध्वनि) के कई भेद हैं, किन्तु रस, भाव आदि [नामक भेद] उनकी अपेक्षा कहीं [अधिक] प्रधान हैं।[5]

—रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम।[6]

—रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रहकर ही वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्वक [योजना होती है, और ऐसी] योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है।[7]

—इस व्यंग्य-व्यंजक भाव (अर्थात् ध्वनितत्त्व) के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए।[8]

१,२. काव्यालंकार १४।३७; १४।३८

३. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवाऽन्यथा हि स्यात्॥ का० अ० १२।२

४. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥ ध्वन्या० ४।८

५. प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपेलक्षणं प्राधान्यात्।
—ध्वन्या० १। ५ वृत्ति

६. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ ध्वन्या० ४।४

७. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ ध्वन्या० ३। ३२

८. व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ४। ५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया।[1]

आनन्दवर्द्धन के उपरान्त वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया।[2] उन्होंने उपसर्गगत और निपातगत पदवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की,[3] प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया[4], और रसवत् अलंकार को 'सब अलंकारों का जीवित' कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत की।[5]

कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में अग्निपुराणकार ने काव्य में रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के विना शोभित नहीं होती उसी प्रकार वाणी भी रस के विना शोभित नहीं होती।[6]

●

रस के प्रति उक्त समादर-भाव अग्निपुराणकार के समय के आस-पास और अधिक उच्च रूप ग्रहण कर गया। अब रस को 'आत्मा' पद पर आसीन कर दिया गया—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्।[7] अर्थात् काव्य में यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है किन्तु उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार महिमभट्ट ने

---

१. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्। काव्यप्रकाश १ म उ०

२. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते। व० जी० १।५

३. रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता॥ व० जी० २।३३

४. व० जी० ४।४, ८, १०, १६, २१

५. यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥ व० जी० ३।१४

६. लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा। अ० पु० ३३९।९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भी रस को सर्वसम्मति से ही काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया—**काव्यस्यात्मनि संगिनि × × × रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः ।**[1]

इधर इसी बीच 'काव्यपुरुष-रूपक' भी पूर्णतः स्थिर हो चुका था—जिसके बीज दण्डी और वामन के समय से मिलना प्रारम्भ हो गये थे।[2] राजशेखर और उनके उपरान्त विश्वनाथ ने इसी रूपक के अन्तर्गत काव्य को आत्मा रूप में घोषित किया,[3] और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्यलक्षण भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।**[4]

●

किसी काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने के दो आधारों का पीछे निर्देश किया जा चुका है। पहला आधार है उसी काव्यतत्त्व में काव्य के अन्य तत्त्वों का समावेश एवं अन्तर्भाव समझना, और दूसरा आधार है अन्य काव्यतत्त्वों द्वारा इसी तत्त्व की पुष्टि समझना।[5] निस्सन्देह दूसरा आधार अधिक मान्य है क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट, स्वस्थ, आग्रह-रहित एवं तर्कपूर्ण है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्द्धन और उनके अनुकर्ताओं—मम्मट और विश्वनाथ ने, तथा इनके परवर्ती संग्रहकर्ता आचार्यों ने, अन्य काव्यतत्त्वों—अलंकार, गुण और रीति—को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए इन्हें उसके पोषक रूप में प्रस्तुत किया। इन्होंने इन तीनों का लक्षण तो रस के आधार पर स्थिर किया ही, दोष का लक्षण भी 'रस' के अपकर्ष पर स्थिर किया—जहां दोष रस का अपकर्षक है वहीं वह दोष है अन्यथा नहीं है।[6]

---

१. साहित्यदर्पण (प्रथम परिच्छेद) से उद्धृत।

२. दण्डी ने 'काव्य-शरीर' की ओर संकेत किया था तो वामन ने 'काव्यात्मा' की ओर—

(क) शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। का०द० १।१०

(ख) रीतिरात्मा काव्यस्य। का०सू०वृ० १।२।६

३. देखिये पृष्ठ १६२

४. विश्वनाथ से पूर्व मम्मट ने भी गुण के लक्षण के प्रसंग में रस को काव्य की आत्मा मानने का संकेत—रूपक का आश्रय लेते हुए प्रकारान्तर से सही—किया अवश्य था: देखिए पृष्ठ १६०, पा० टि० ६ (ख)।

५. देखिए पृष्ठ १६६

६. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का०प्र० ८।६७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार हमने देखा कि पहले रस के प्रति समादर-भाव प्रकट किया गया, (२) पुनः रस के साथ अन्य काव्यतत्त्वों का स्वरूप सम्बद्ध किया गया, और (३) अन्ततः उसे 'आत्मा' रूप में उद्‌घोषित कर दिया गया—और इस सबका एक मात्र कारण यह है कि रस अन्य काव्यतत्त्वों की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक तत्त्व है—यहां तक कि वह 'ध्वनि' के प्रमुख पाँच भेदों में से शेष चार भेदों की अपेक्षा भी आन्तरिक है।

उपसंहार

इस प्रकार 'काव्यात्मा' के प्रसंग में उक्त पांच सिद्धान्तों के एतद्-विषयक पर्यवेक्षण के उपरान्त काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इसके निर्णय का मार्ग सुगम हो जाता है। 'चैतन्यमात्मा' तथा 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' इस आधार पर काव्य के प्रसंग में 'आत्मा' शब्द का तात्पर्य है—काव्य का अनिवार्य तत्त्व, तथा वह तत्त्व बाह्य न होकर आन्तरिक होना चाहिए। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्व बाह्य ही हैं।[1] शेष रहे दो काव्यतत्त्व—ध्वनि और रस। हमारे विचार में ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना चाहिये। इस स्वीकृति के अनेक कारण हैं :

—प्रथम कारण यह है कि यह तत्त्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। यहां तक कि रस के उदाहरणों में भी इसी तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्यतः अपेक्षित है। रस का चमत्कार व्यङ्ग्यार्थ पर आधारित रहता है—रस वस्तुतः ध्वनि का ही एक भेद माना जाता है। ध्वनि-तत्त्व के अभाव में किसी भी कथन को 'काव्य' नहीं कह सकते, वह या तो 'लोक-वार्ता' कहा जाएगा या 'शास्त्रचर्चा'।

—दूसरा कारण यह है कि ध्वनि-तत्त्व रस की अपेक्षा कहीं अधिक

(ख) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८।६६

(ग) पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ×॥ सा० द० ९।१

(घ) रसापकर्षकाः दोषाः। सा० द० ७।१

१. वे कितनी सीमा तक बाह्य हैं, यह विषय प्रस्तुत प्रसंग से सम्बद्ध नहीं है। (देखिए पृष्ठ १६४)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यापक है । ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर काव्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य । इन तीनों श्रेणियों में ध्वनि-तत्त्व क्रमशः मुख्य, गौण और अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है । ध्वनि-काव्य के प्रमुख पाँच भेदों में से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि नामक ध्वनि-भेद का अपर नाम ही रसादि (अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भावशवलता और भावशान्ति) है । इस प्रकार अंगीभूत रस आदि का अन्तर्भाव ध्वनि में हो जाता है । गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ भेदों में से 'अपरांग' नामक दूसरे भेद के अन्तर्गत रसवद्, प्रेयस्वद् आदि अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है, जो वस्तुतः उस स्थिति में स्वीकृत किये जाते हैं जब रस, भाव आदि अंगभूत रूप में वर्णित हों । इस प्रकार रस चाहे अंगीभूत रूप में वर्णित हो अथवा अंग रूप में काव्य-श्रेणी के दृष्टि से ध्वनि से ही सम्बन्धित है । शेष रहे ध्वनि के [रसेतर] शेष चार भेद, और गुणीभूत व्यंग्यार्थ के शेष सात भेद—ये सभी तो ध्वनि से सम्बन्धित हैं ही ।

अब काव्य के तीसरे-प्रमुख-भेद चित्रकाव्य को लीजिए । चित्रकाव्य से तात्पर्य है—अलंकार-प्रयोग, किन्तु इसमें भी ध्वनि-तत्त्व की सत्ता, चाहे वह अस्फुट रूप से ही क्यों न हो, नितान्त अनिवार्य है, और इसी चित्रकाव्य के अन्तर्गत सभी शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का काव्य-चमत्कार निहित हो जाता है । शेष रहे गुण और रीति नामक काव्य-तत्त्व, तो ये दोनों रस-ध्वनि से सम्बद्ध रहने के कारण ध्वनि से ही सम्बद्ध हैं । इनका चमत्कार वस्तुतः रस-ध्वनि का ही चमत्कार होता है । इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व में सभी प्रकार का काव्य-चमत्कार अन्तर्भूत हो जाता है, अतः वह एक व्यापक काव्य-तत्त्व है ।

इस प्रकार उक्त दोनों कारणों से ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए ।

●

किन्तु समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता । रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि रस के उदाहरण [और 'अपरस्यांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण भी] तो रस हैं ही, ध्वनि के शेष चार भेदों, गुणीभूतव्यंग्य के शेष सात भेदों के उदाहरण भी वस्तुतः रस ही हैं, क्योंकि उनका चमत्कार किसी न किसी रूप में रस से सम्बद्ध रहता है । उदाहरणार्थ, वस्तु-ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण **'गतोऽस्तमर्क,:** (अर्थात् 'सूर्य डूब गया') तभी काव्य के अन्तर्गत माना जाएगा जब वक्ता का अभिप्राय केवल इतना मात्र न हो कि अब 'अनध्ययन का समय हो गया,' अथवा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'कार्य समाप्त करने का समय होगया' आदि, अपितु उसकी आन्तरिक मनोभावनाओं का परिचायक भी हो। उदाहरणार्थ, 'कार्य समाप्त हो गया' इस व्यंग्यार्थ को तभी काव्य का विषय माना जाएगा जब वक्ता को अपने प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता हो, अथवा उसकी ऐसी किसी अन्य मनोलालसा का पता चले। इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में भी वस्तुत: रस की ही सत्ता विद्यमान है, अत: रस को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए, ध्वनि को नहीं। निस्सन्देह व्यंग्यार्थ-प्रतीति का प्रयोजन किसी मनोवृत्ति का द्योतन ही है, किन्तु इसी आधार पर ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य अथवा चित्रकाव्य के सभी भेदों के उदाहरणों को शृङ्गार आदि रसों के साथ सम्बद्ध करना समुचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से रस अपने पारिभाषिक अर्थ में सब प्रकार के 'काव्यचमत्कार' अथवा 'काव्यानन्द' का वाचक नहीं है, अपितु वह विशिष्ट प्रकार के आनन्द का, स्थायिभाव के साथ विभावादि के संयोग से जन्य आनन्द का, वाचक है। यों चाहें तो रस का व्यापक अर्थ—सब प्रकार का काव्यचमत्कार—भी ले सकते हैं, किन्तु यह उसका लक्ष्यार्थ ही है, वाच्यार्थ नहीं है, और शास्त्रीय चर्चाओं में वाच्यार्थ के ही बल पर सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने चाहिए, लक्ष्यार्थ के बल पर नहीं। इस दृष्टि से रस अपनी सीमा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

●

निष्कर्षत: काव्य के अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक तत्त्व ध्वनि को ही काव्य की आत्मा (साधन) स्वीकृत करना चाहिए, क्योंकि यही तत्त्व सब प्रकार के काव्यानन्द (साध्य अथवा सिद्धि) का साधन बनने की पूर्ण क्षमता रखता है।

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १७ :

क्या केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे ?

भावी घटनाएँ अपने आगमन की सूचना पूर्व ही देने लग जाती हैं—यदि यह उक्ति सत्य है तो यह हिन्दी-साहित्य के उस ग्रन्थ-समुदाय पर पूर्णतः घटित होती है जिसे हम रीतिकालीन साहित्य कहते हैं। जब केशवदास ने 'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देवचरित' 'रतनबावनी', 'विज्ञानगीता' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' के अतिरिक्त 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'नखशिख' की रचना की होगी तो उन्हें तनिक भी ध्यान न आया होगा कि उनके पचास वर्ष उपरान्त कोई चिन्तामणि नामक आचार्य रीतिग्रन्थ का निर्माण करेगा, और फिर उसके तुरन्त उपरान्त ऐसे ग्रन्थों की निर्माण-परम्परा पूरे दो सौ वर्ष तक निरन्तर चली जाएगी जो कि शत-शत रीतिग्रन्थों की रचना का कारण बनेगी, किन्तु हिन्दी-साहित्य का इतिहासकार केशव के उक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को रीतिकालीन रीतिग्रन्थ-परम्परा का पूर्वसूचक घोषित करता है, और इस प्रकार उपरिलिखित उक्ति की चरितार्थता भी सिद्ध कर देता है।

इसके अतिरिक्त केशव को सम्भवतः इसका भी तनिक ध्यान न आया होगा कि उन के लगभग चार सौ वर्ष उपरान्त उनके कतिपय कथनों के आधार पर आलोचक उन्हें 'अलंकारवादी' आचार्य स्वीकृत करते हुए उनकी गणना भामह, दण्डी और उद्भट जैसे पूर्ववर्ती आचार्यों में करेंगे, और इससे यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे कि जिस प्रकार संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय इतिहास में पहले अलंकारवाद का बोलबाला रहा, और फिर रसवाद और ध्वनिवाद का, उसी प्रकार हिन्दी में भी अनायास यही क्रम उपस्थित हो गया—अलंकारवादी केशव के उपरान्त रसध्वनिवादी चिन्तामणि आदि का आगमन हुआ।

●

किन्तु क्या केशव अलंकारवादी थे? और क्या चिन्तामणि आदि रसध्वनि-वादी थे ? हमें यहां केवल प्रथम शंका का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करना है। अलंकार के सम्बन्ध में केशव की निम्नोक्त उक्तियाँ अथवा धारणाएँ हैं—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(१) उन्होंने अलंकार को कविता का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए सर्वगुण-सम्पन्न भी अलंकार-रहित कविता को उस प्रकार शोभाहीन माना है जिस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न भी आभूषण रहित नारी—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

(२) उन्होंने नौ रसों का निरूपण 'रसवत्' अलंकार के अन्तर्गत कर रस (अलंकार्य) को भी प्रकारान्तर से अलंकार मान लिया है—

रसमय होय सुजाति ये रसवत केशवदास।
नवरस को संक्षेप हो समुझौ करत प्रकास॥

(३) उन्होंने निम्नोक्त पद्य में काव्य के सभी उपादेय एवम् सौन्दर्य-विधायक अंगों को अलंकार के अन्तर्गत प्रकारान्तर में समाविष्ट करने का संकेत किया है—

अलंकार कवितान के सुनि सुनि विविध विचार।
कविप्रिया केशव करी कविता को सिंगार॥

उधर भामह, दण्डी और उद्भट को अनेक कारणों से अलंकारवादी माना जाता है। भामह ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है— **न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्**, और केशव ने भी सांग-रूपक का आश्रय लेकर इस कथन को उपर्युक्त परिवर्तित रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

दूसरा कारण यह है कि वे काव्य के सभी उपादेय अंगों को अलंकार में अन्तर्भूत करते हैं। उदाहरणार्थ, अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही; रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि भी रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी, समाहित आदि अलंकार ही हैं। दूसरे शब्दों में, रसध्वनिवादी जिन्हें 'अलंकार्य' (अलंकारों द्वारा अलंकरणीय) मानते हैं उन्हें यहाँ 'अलंकार' कहा जाता है। इसी प्रकार गुण और ध्वनि को भी प्रकारान्तर से 'अलंकार' में अन्तर्भूत किया गया है—यहाँ तक कि नाट्य-सन्धियों, नाट्यसन्ध्यंगों, रसवृत्तियों, रसवृत्त्यंगों तथा 'भूषण' आदि लक्षणों को भी 'अलंकार' नाम देने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। केशव-सम्मत उपर्युक्त दूसरी धारणा उन्हें अलंकार-सम्प्रदाय का पोषक सिद्ध करती है।

उपर्युक्त दोनों कारणों के आधार पर आज का आलोचक यह स्वीकार कर लेता है कि अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार 'अलंकार' काव्य-सौन्दर्य का सर्वस्व है, अर्थात् किसी काव्य में जो सौन्दर्य है वह अलंकार के ही कारण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है। केशव-सम्मत उपर्युक्त तीसरी धारणा इसी आशय की ओर अस्पष्ट शब्दों में संकेत करती है। वस्तुतः यह धारणा रीतिवादी आचार्य वामन के निम्न कथनों के समकक्ष ठहरती है—**काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः।** यद्यपि स्वयम् वामन अलंकारवादी न थे, किन्तु उक्त दोनों सूत्रों में प्रयुक्त 'अलंकार' शब्द केवल उपमा आदि का वाचक न होकर काव्यगत सभी सौन्दर्य का, दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य-विधायक सभी काव्यांगों का, वाचक ठहरता है, और वामन को 'अलंकार' का यह व्यापक अर्थ भी मान्य था।

निस्सन्देह उक्त तीनों धारणाओं के आधार पर केशवदास को अलंकारवादी आचार्य मानने में तनिक भी संकोच न होना चाहिए। केवल इतना ही क्यों, वे एक पग और भी आगे चले गये हैं। उन्होंने अपने कविप्रिया ग्रन्थ में अलंकार के दो प्रकार माने हैं—विशिष्ट अलंकार और साधारण अलंकार। विशिष्ट अलंकार से उनका तात्पर्य अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों से है, और साधारण अलंकार से उनका तात्पर्य वर्णनीय विषय-सामग्री से है। इसके उन्होंने चार प्रकार माने हैं—वर्ण, वर्ण्य, भू-श्री और राज्य-श्री। केशव के इस प्रसंग का स्रोत अमरचन्द यति कृत 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा केशवमिश्र कृत 'अलंकारशेखर' हैं, जहाँ इसे 'कविशिक्षा' के अन्तर्गत स्थान मिला है, पर इन दोनों ग्रन्थों में इस प्रसंग को 'अलंकार' नाम नहीं दिया गया। यह केशव की निजी धारणा है जो कि किसी भी रूप में मान्य नहीं है। उक्त वर्ण आदि वस्तुतः काव्य की विषय-सामग्री हैं, अतः ये उपमा आदि अलंकारों द्वारा अलंकरणीय होने के कारण 'अलंकार्य' कहे जाएँगे, 'अलंकार' नहीं। किसी विशिष्ट काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय का अवलम्बन करने के कारण स्वसम्मत काव्यतत्त्व में इतर काव्यांगों—काव्य के सौन्दर्यविधायक उपकरणों—का समावेश तो सह्य हो सकता है, किन्तु स्वयं विषयवस्तु को ही उसमें समाविष्ट कर देना न केवल सीमा का उल्लंघन है अपितु नितान्त भ्रमपूर्ण एवम् अमान्य तथा असह्य धारणा है।

●

इस अन्तिम कारण को छोड़ भी दिया जाए तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त तीनों कारणों के बल पर केशव को अलंकारवादी माना जा सकता है; पर वस्तुस्थिति इससे पर्याप्त भिन्न है। किसी लेखक के साम्प्रदायिक विचारों का निर्णय करने के लिए उसके किसी एक ग्रन्थ का आधार न लेकर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तत्सम्बन्धी सभी ग्रन्थों का आधार लेना चाहिए। केशव जितनी तन्मयता के साथ 'कविप्रिया' में अलंकार का निरूपण एवम् समर्थन करते हैं, लगभग उसी तन्मयता के साथ वे 'रसिकप्रिया' में रस का समर्थन करते हैं। उनका यह सम्पूर्ण ग्रन्थ रस से सम्बद्ध है। भोजराज तथा अग्निपुराणकार के अनुसार उन्होंने शृंगार रस को रसों का नायक अर्थात् रसराज माना है।[1] उन्होंने शृङ्गार रस का सांगोपांग वर्णन करते हुए भानुमिश्र तथा विश्वनाथ के समान इस रस के आलम्बनविभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण किया है। शृङ्गार-रस के निरूपण के प्रति इनका पक्षपात एवम् आग्रह इतना अधिक है कि रसिकप्रिया ग्रन्थ का समग्र कवित्व-भाग शृङ्गार रस के ही उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सभी उदाहरण राधा-कृष्ण को आलम्बन मानकर निर्मित हुए हैं। यहाँ तक कि शृंगारेतर रसों में भी यही युग्म आलम्बन रूप में गृहीत है, और प्रकारान्तर से इन रसों को शृङ्गार रस में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थारम्भ में 'नवरस में ब्रजराज नित' यह कथन लिखकर आचार्य ने ग्रन्थ की मूलवर्तिनी विचारधारा का संकेत प्रारम्भ में ही कर दिया है। इस प्रक्रिया से दो बातें सिद्ध होती हैं—एक यह कि केशव ने रूपगोस्वामी आदि भक्त आचार्यों का अनुमोदन करते हुए राधा-कृष्ण के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है, दूसरी यह कि शृङ्गार रस को उन्होंने सब रसों का नायक माना है। सर्वोपरि रस इसलिए भी मानना अभीष्ट है कि इसमें अन्य रस प्रकारान्तर से अन्तर्भूत हो जाते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास अशास्त्रीय तो है ही, साथ ही हास्यास्पद भी बन गया है। दो उदाहरण लीजिए :

श्रीकृष्ण का बीभत्स रस—

टूटे टाटि घुनघने धूम धूम सेन सने, झींगुर छगोडी साँप बिच्छिन की घातजू ॥
कंटक कलित त्रिन वलित विगंध जल, तिनके तलप लता को ललचात जू ॥
कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात, कहि न सकत बात, अति अकुलात जू ॥
छेडी में घुसे कि घर ईंधन के घनश्याम, घर घरनीनि जात न घिनात जू ॥

बीभत्सपूर्ण छेड़ी (संकरी गली) में राधा के मिलनेच्छुक कृष्ण के इस प्रसंग को केशव ने शृंगार रस की पृष्ठभूमि में बीभत्स रस के उदाहरण-स्वरूप

---

१. नवहूँ रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि, नायक है शृंगार ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रस्तुत किया है । इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण लीजिए :
श्रीकृष्ण का सम (शान्त) रस—

खारिक खात न दारौउदाखन, माखनहूं सह मेटि इठाई ।
केशव ऊख मयूषहि दूखत, आइहौं तो पहँ छांडि जिठाई ।
तो रदनच्छद को रस रंचक, चाखि गये करि केहूं ढिठाई ।
ता दिन ते उन राखी उठाय, समेत सुधा वसुधा की मिठाई ॥

राधा के अधर रस को चखने वाले कृष्ण ने संसार के सभी स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों को तिलांजलि दे दी है । केशव ने इस प्रसंग को भी शृंगार रस की पृष्ठभूमि में शान्तरस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है ।

केशव रस के प्रति कितना सचेत और सजग हैं, इस सम्बन्ध में दो अन्य तथ्य भी अवेक्षणीय हैं—(१) कवि के लिए 'वाणी' (कवित्व-निर्माण के साधन) की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए वे इस साधन के द्वारा कवित्व को 'रसाल' अर्थात् सरस बनाने का आग्रह कर रहे हैं, न कि अलंकृत—

ज्यों बिन डीठ न शोभिए लोचन लो विशाल ।
त्यों ही केशव सकल कवि बिन वाणी न रसाल ।।

इसी प्रकार, (२) दोष-प्रकरण में दोष को अत्यन्त त्याज्य एवं हेय घोषित करते हुए[1] उन्होंने अन्य प्रकार के दोषों के अतिरिक्त 'अनरस' अर्थात् रस-दोषों की भी स्वीकृति दी है । इस तरह इन दोनों तथ्यों द्वारा केशव ने काव्य में रस के अनिवार्य अस्तित्व की स्वीकृति प्रकारान्तर से दे दी है ।

यह सब दिखाने का हमारा उद्देश्य केवल यही है कि भामह, दण्डी और उद्भट इन अलंकारवादी आचार्यों में से कोई भी आचार्य इस प्रकार की पद्धति एवं विचारधारा को अपनाकर रस के प्रति इतना अधिक आग्रह किसी भी रूप में न करता । केशव का केवल यही रसिकप्रिया ग्रन्थ देखा जाए तो किसी सुबुद्ध पाठक को विश्वास तक न आएगा कि आगे चलकर यही आचार्य कविप्रिया के माध्यम से अलंकारवाद का समर्थन कर देगा ।

●

तो क्या केशव रसवादी आचार्य हैं ? हमारा इस सम्बन्ध में भी यही उत्तर है कि 'नहीं ।' कारण अनेक हैं । रसवादी आचार्य विश्वनाथ के समान रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत करते हैं । वे आनन्दवर्द्धन तथा उनके परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों के समान रस को व्यंग्य पर आश्रित मानकर

---

१. राजत रंच न दोष युत कविता बनिता मित्त ।
बुन्दक हाला परत ज्यों गंगा घट अपवित्त ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि का पर्याय स्वीकार करते हैं, तथा इस सबसे बढ़कर वे गुण, रीति, अलंकार और यहाँ तक कि दोष के स्वरूप के लिए भी किसी-न-किसी रूप में रस का ही आधार ग्रहण करते हैं। किन्तु केशव ने उक्त तत्त्वों में से किसी ओर भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संकेत नहीं किया। वस्तुतः रसिकप्रिया ग्रन्थ में इन सब का अवकाश था भी नहीं। भानुमिश्र का ग्रन्थ 'रसमंजरी', जिसके आधार पर केशव आदि हिन्दी के आचार्यों ने शृंगार रस तथा उसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया है, मूलतः 'नायक-नायिका-भेद' का ग्रन्थ होने के कारण न तो उसमें रस-विषयक उक्त तथ्यों का संकेत करने की आवश्यकता थी, और न ही शृङ्गार रस तथा नायक-नायिका-विषयक ग्रन्थ लिख लेने के कारण भानुमिश्र को अथवा उनके किसी अनुकर्ता को रसवादी घोषित किया जा सकता है। नायक-नायिका-भेद से सम्बद्ध ग्रन्थ लिख देना अलग बात है, और रस की महत्ता का प्रदर्शक ग्रन्थ लिखना अलग बात। ठीक यही स्थिति, बल्कि इससे भी बढ़कर स्थिति, किसी अलंकार-ग्रंथ की भी है। भामह, दण्डी और उद्भट तो निस्सन्देह अलंकारवादी हैं, पर उधर संस्कृत में 'कुवलयानन्द' के लेखक अप्पय्यदीक्षित को, और इधर हिन्दी में 'कविकण्ठाभरण' के लेखक दूलह को भामह आदि आचार्यों के अनुरूप अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता। यों तो अप्पय्यदीक्षित ने शब्दशक्ति-विषयक 'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ भी लिखा है, तथा दूलह की भी किसी अन्य काव्यांग से सम्बद्ध रचना उपलब्ध हो जाने पर उसे अलंकारवादी मानने का बल कम पड़ सकता है। अस्तु !

●

जहाँ तक किसी सम्प्रदाय अथवा वाद-विशेष का प्रश्न है, हमारा विनम्र निवेदन है कि जब तक कोई आचार्य इतर काव्यांगों को स्वसम्मत काव्यतत्त्व में अन्तर्भूत करने का, अथवा उन्हें इस काव्यतत्त्व के पोषक एवम् उपकारक रूप में स्वीकार करने का, उल्लेख नहीं करता, तब तक उसे किसी विशिष्ट काव्यतत्त्व-विषयक सम्प्रदाय अथवा वाद से सम्बद्ध मानना समुचित नहीं है। और साथ ही, यदि कोई आचार्य किसी एक काव्यतत्त्व का समर्थक ग्रन्थ न लिखकर एक से अधिक काव्यतत्त्वों के समर्थक ग्रन्थों अथवा प्रसंगों का प्रणयन करता है तो उसे भी किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का समर्थक मानना समुचित नहीं है।

●

अब केशव के सम्बन्ध में विचार करें। उन्होंने पहले 'रसिकप्रिया' का निर्माण किया—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उनसे पूर्व कृपाराम, सूरदास,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नन्ददास, मोहनलाल, रहीम, सुन्दर आदि नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण कर चुके थे। न तो ये सभी रसवादी कहाते हैं और न ही केशव को इसी ग्रन्थ के आधार पर रसवादी मानना चाहिए। 'रसिकप्रिया' के उपरान्त उन्होंने 'कविप्रिया' का निर्माण किया। किसी व्यक्ति को किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्बद्ध तभी मानना चाहिए जब उसने विभिन्न तत्त्वों के गहन एवम् सूक्ष्म परीक्षण के उपरान्त किसी एक तत्त्व को अपना लिया हो। केशव के सामने भामह, दण्डी, उद्भट आदि ध्वनि-पूर्ववर्ती और आनन्दवर्द्धन एवं मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-परवर्ती, आचार्यों के दोनों मार्ग उन्मुक्त थे। वे शायद जानते होंगे कि अब अलंकार की व्यापक महत्ता रस और ध्वनि के आगे न केवल समाप्त हो चुकी है, अपितु इनमें उपकारकोपकार्य-सम्बन्ध स्थापित हो गया है—**'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्'** (का० प्र० ८।६७)। अब भामह का उपर्युक्त कथन—**'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'** निस्सार हो गया है। दण्डी का यह मत कि 'काव्य के सौन्दर्य-जनक सभी साधन—क्या गुण और क्या रस—सभी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने चाहिएं' अब अपना महत्त्व खो चुका है। उद्भट की यह धारणा कि रस, भाव आदि प्रधान रूप से वर्णित हो जाने पर भी रसवत्, प्रेयः आदि अलंकार कहाते हैं, आनन्दवर्द्धन द्वारा खण्डित हो चुकी है। अब उन्हें अलंकार तभी माना जाएगा जब ये किसी अन्य अंगीभूत रस के अंग रहकर वर्णित होंगे, अन्यथा नहीं, और मम्मट ने इन्हें अनुप्रास, उपमा आदि चित्रकाव्य की कोटि से उभार कर 'अपरस्यांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य के रूप मानते हुए उच्च धरातल पर अवस्थित कर दिया है। सम्भवतः केशव यह भी जानते होंगे कि अब 'अलंकार' वामन के **'सौन्दर्य-मलंकारः'** इस सूत्र के अनुसार वर्ण्यविषय के चमत्कार (सौन्दर्य) के सभी उपकरणों का पर्याय नहीं है, अपितु काव्य-सौन्दर्य का एक अस्थिर साधन मात्र रह गया है—**अस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः** (सा० द० १०।१)। इतना सब कुछ जानते हुए भी केशव ने यदि प्राचीन अलंकारवाद का समर्थन जान-बूझ कर किया है तो उन्हें एक दृढ़ एवं प्रौढ़ आचार्य के रूप में स्वीकार कर लेने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए था; पर प्रतीत ऐसा होता है कि उनके हाथ केवल दण्डी का ही ग्रन्थ 'काव्यादर्श' लगा है, अथवा उन्हें यह ग्रन्थ आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक सरल प्रतीत हुआ है, जिसके आधार पर उन्होंने 'कविप्रिया' का निर्माण कर दिया है। वे मूलतः न तो रसवाद के समर्थक थे और न ही अलंकारवाद के। समय-समय पर संस्कृत का जो ग्रन्थ हाथ लगा उसी का आधार लेकर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हिन्दी-ग्रन्थ का निर्माण कर दिया। अलंकारवादी दण्डी आदि तीनों आचार्यों के लिए तो आनन्दवर्द्धन एवं मम्मट आदि के खण्डन का अवकाश न था, पर केशव तो ऐसा कर सकते थे कि वे रस तथा ध्वनि के अतिरिक्त रीति और वक्रोक्ति के साथ अलंकार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके स्वसम्मत अलंकारवाद का समर्थन करते, किन्तु उन्होंने कहीं भी ऐसा नहीं किया। सम्भवत: उन्हें ध्वनि-सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन का किसी कारणवश अवकाश ही नहीं मिला। यदि अवकाश मिलता तो वे 'पाण्डित्य-प्रदर्शन' से न चूकते, और इस प्रकार अलंकारवाद का विवेक-सम्मत समर्थन कर देते। **वस्तुत: वे तो दण्डी के ग्रन्थ काव्यादर्श के रूपान्तरकार मात्र हैं, और बस।** इसे उन्होंने शायद इसलिए चुन लिया कि वह अपेक्षाकृत एक सरल पाठ्य-ग्रन्थ है। **अत: किसी रूपान्तरकार को उस ग्रन्थ से सम्बद्ध सम्प्रदाय के प्रति सदा आस्थावान् समझना भूल होगी, विशेषतः तभी जब कि उसने इतर सम्प्रदाय-विषयक धारणाओं का भी समर्थन कर दिया हो।**

●

इसी प्रसंग में अब भी एक शंका शेष रह जाती है कि केशवदास यद्यपि भामह, दण्डी और उद्भट के समान अलंकारवादी न सही, किन्तु वे अलंकारवाद की ओर उन्मुख अवश्य थे और इसका प्रवल प्रमाण है इनके प्रबन्ध-काव्य 'रामचन्द्रिका' में अलंकारों का अतिशयता से एवं जानबूझ कर प्रयोग। किन्तु इस आधार पर इन्हें 'अलंकारप्रिय' अथवा बाह्य चमत्कार-प्रिय कवि तो अवश्य मान सकते हैं, पर अलंकारवादी आचार्य नहीं। उदाहरणार्थ, मम्मट जैसे ध्वनिवादी आचार्य की यदि ऐसी काव्यरचना उपलब्ध हो जाए कि जिसमें अलंकारों का अतिशयता से और जानबूझकर प्रयोग किया गया हो तो मम्मट को एक ओर अलंकारप्रिय कवि कहेंगे और दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्य। उसका इस दृष्टि से दोहरा व्यक्तित्व ही स्वीकृत रहेगा—कविरूप में और आचार्य रूप में, और ये दोनों व्यक्तित्व अलग-अलग ही होंगे। ठीक इसके विपरीत यदि दण्डी की कोई रचना उपलब्ध हो जाए जिसके द्वारा सहृदय को 'अमरुशतक' के समान शृंगार रस का आस्वाद प्राप्त हो तो 'रसप्रिय' कवि दण्डी का व्यक्तित्व अलंकारवादी आचार्य दण्डी से विभिन्न मानना होगा, उसे रसवादी आचार्य किसी भी स्थिति में नहीं मान सकते। इसी प्रकार केशव को अलंकारों द्वारा चमत्कारोत्पादक काव्य की रचना करने के कारण भी अलंकारवादी आचार्य नहीं मान सकते, अलंकारप्रिय कवि उसे भले ही कहा जाए।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १८ :

श्लेष अलंकार

जो अलंकार अनेकार्थता के आधार पर काव्य-चमत्कार उत्पन्न करता है उसे श्लेष अलंकार कहते हैं। इसके दो रूप माने जाते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। शब्दश्लेष के दो भेद हैं—सभंग और अभंग।

श्लेष के उक्त स्वरूप तथा भेदों के सम्बन्ध में कतिपय स्पष्टीकरण अपेक्षित हैं। जैसे—

१. श्लेष अलंकार का अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों से क्या सम्बन्ध है?

२. शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में क्या अन्तर है?

३. अभंग श्लेष को क्यों न अर्थालंकार मान लिया जाए?

४. श्लेष तथा श्लेषमिश्रित अलंकारों की पारस्परिक स्थिति क्या है? अर्थात् श्लेष अलंकार स्वतन्त्र है अथवा नहीं?

इस निबन्ध में इन्हीं चार प्रसंगों पर विचार-विमर्श प्रस्तुत है।

१. श्लेष अलंकार और शब्दशक्ति

श्लेष अलंकार और अभिधा शब्दशक्ति—अभिधा शब्दशक्ति से मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बोध होता है। एकार्थक शब्दों के मुख्यार्थ-बोध के सम्बन्ध में तो अभिधा शक्ति की स्थिति स्पष्ट है, किन्तु श्लिष्ट अर्थात् अनेकार्थक शब्द के किस अर्थ का ग्रहण अभिधा शक्ति द्वारा किया जाए और किसका नहीं, इसके निर्णय के लिए निम्नोक्त 'विशेष-स्मृति-हेतु' अर्थात् निर्णायक तत्त्व स्वीकार किये गये हैं—

संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, आदि। उदाहरणार्थ—**'नग सूनो बिन मूंदरी'** कथन में 'नग' शब्द के अतिरिक्त शेष शब्दों के वाच्यार्थ का बोध अभिधाशक्ति द्वारा होने में कोई बाधा नहीं है, किन्तु श्लिष्ट 'नग' शब्द का वाच्यार्थ यहाँ 'पर्वत' ग्रहण किया जाए अथवा रत्न-विशेष, इसका निर्णय 'साहचर्य' नामक विशेष-स्मृति-हेतु (निर्णायक तत्त्व)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के आधार पर किये जाने पर 'नग' शब्द का वाच्यार्थ 'रत्न-विशेष' ही लिया जाएगा, 'पर्वत' नहीं। अब यह गृहीत अर्थ 'श्लेष' का विषय नहीं रहा, केवल अभिधा शब्दशक्ति का ही विषय बनकर रह गया है, क्योंकि श्लेष में सदैव एकाधिक अर्थों का ग्रहण किया जाता है। हाँ, जिन प्रसंगों में दोनों अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट रहता है वह श्लेष अलंकार का विषय है, किन्तु वहाँ भी दोनों अर्थ 'वाच्यार्थ' ही होते हैं, अतः उन दोनों अर्थों का ग्रहण भी अभिधा शक्ति द्वारा ही होता है। (उदाहरणार्थ, देखिए आगे—**'करन कलित है चक्र नित × × ×'** पृष्ठ २०४)

निष्कर्ष यह कि चाहे शब्द एकार्थक हो अथवा अनेकार्थक, उसका वाच्यार्थ अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत होता है। अनेकार्थक शब्दों में जहाँ संयोग आदि के आधार पर केवल एक अर्थ का ग्रहण किया जाता है, अथवा श्लेष के आधार पर जहाँ कवि को दोनों अर्थ अभीष्ट रहते हैं—ये सब वाच्यार्थ होने के कारण अभिधा शक्ति से ही गृहीत होते हैं।

श्लेष अलंकार तथा लक्षणा शब्दशक्ति—लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा ज्ञात लक्ष्यार्थ न अभिधा शब्दशक्ति का विषय है और न श्लेष का, क्योंकि अभिधा शक्ति केवल वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु लक्ष्यार्थ का बोध वाच्यार्थ के उपरान्त होता है, यद्यपि यह अलग बात है कि वह उससे सम्बद्ध रहता है, पर होता उससे भिन्न ही है। लक्ष्यार्थ श्लेष का विषय भी नहीं है, क्योंकि एक तो श्लेष अलंकार में जिन दो अर्थों का बोध होता है वे दोनों वाच्यार्थ होते हैं—अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत रहते हैं, और दूसरे, ये दोनों ही कवि को अभीष्ट रहते हैं, उदाहरणार्थ देखिये—**करन कलित है चक्र नित × × ×** पृष्ठ २०४), किन्तु इसके विपरीत लक्षणा के प्रसंग में प्रथम अर्थ तो अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत रहता है किन्तु दूसरा अर्थ लक्षणा शक्ति द्वारा। इसके अतिरिक्त कवि को केवल लक्ष्यार्थ ही अभीष्ट रहता है वाच्यार्थ नहीं। उदाहरणार्थ—'गंगा पर आश्रम है।' यहाँ कवि को केवल गंगा का लक्ष्यार्थ 'गंगा का तीर' अर्थ ही अभीष्ट है, इसका वाच्यार्थ 'नदी का जलप्रवाह' अभीष्ट नहीं है।

श्लेष अलंकार और व्यञ्जना शब्दशक्ति—ठीक यही स्थिति व्यञ्जना शब्दशक्ति की भी है। इस शक्ति द्वारा ज्ञात प्रतीयमान अर्थ न तो अभिधा शक्ति का विषय है और न श्लेष का, क्योंकि अभिधा शक्ति केवल वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बोध के उपरान्त होती है, और वह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न भी होता है। व्यंग्यार्थ श्लेष का विषय भी नहीं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

माना जाता, क्योंकि श्लेष अलंकार में जिन दोनों अर्थों का ग्रहण होता है वे दोनों वाच्यार्थ होते हैं, अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत होते हैं, तथा दोनों समान स्तर पर अवस्थित रहते हैं, किन्तु व्यंजना शक्ति के प्रसंग में पहला अर्थ वाच्यार्थ होता है जो अभिधा शक्ति से गृहीत होता है, और दूसरा अर्थ व्यंग्यार्थ होता है जो व्यंजना शक्ति द्वारा गृहीत रहता है। इसके अतिरिक्त ये दोनों अर्थ समान स्तर पर अवस्थित भी नहीं होते। कवि को वाच्यार्थ अभीष्ट नहीं रहता, केवल व्यंग्यार्थ ही अभीष्ट रहता है।

इसी प्रसंग में अभिधामूला-व्यञ्जना शब्दशक्ति पर भी किञ्चित् प्रकाश डालना अपेक्षित है। जिन अनेकार्थक शब्दों के दोनों अर्थ कवि को अभीष्ट रहते हैं वह श्लेष अलंकार का विषय है, और ये दोनों अर्थ अभिधा शब्दशक्ति द्वारा बोधित होते हैं, तथा जिन अनेकार्थक शब्दों का संयोग, विप्रयोग आदि उक्त नियामक हेतुओं द्वारा केवल एक अर्थ ही गृहीत रहता है वह अभिधा शक्ति का विषय है, यह ऊपर कह आये हैं। किन्तु ऐसे स्थल भी होते हैं जहां उक्त नियामक हेतुओं द्वारा किसी एक अर्थ के गृहीत हो जाने पर भी दूसरा अर्थ प्रतीयमान रूप में, व्यंग्यार्थ रूप में, ज्ञात होता है, यह विषय न तो अभिधा शब्द-शक्ति का है और न श्लेष का, अपितु अभिधामूला व्यञ्जना शब्दशक्ति का है। उदाहरणार्थ—

मुखर मनोहर श्याम रंग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारी झमकि बनमाली रस रूप॥

यहाँ बनमाली अर्थात् मेघ-विषयक प्रसंग के अन्तर्गत इस पद्य का संयोग आदि द्वारा एक अर्थ नियत हो जाने पर भी 'बनमाली' अर्थात् कृष्ण से सम्बद्ध अर्थ भी प्रतीत हो रहा है, जिसका व्यंग्यार्थ यह है कि मेघ कृष्ण के समान है। यह विषय न तो अभिधा शब्दशक्ति का है और न ही श्लेष अलंकार का, अपितु अभिधामूला व्यञ्जना शब्दशक्ति का है।

२. शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में अन्तर

श्लेष अलंकार के दो रूप माने जाते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। इन दोनों रूपों का निर्णायक आधार है—अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध। जिसके होने पर जो रहे उसे 'अन्वय' कहते हैं, और जिसके न होने पर जो न रहे उसे 'व्यतिरेक' कहते हैं—**यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः। यदसत्त्वे यदसत्त्वं व्यतिरेकः।**

शब्दश्लेष में एक अथवा एक से अधिक अनेकार्थक शब्दों के कारण काव्य-चमत्कार रहता है। इनके स्थान पर किसी अन्य पर्यायवाची शब्द के रख देने से

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वह चमत्कार नष्ट हो जाता है, किन्तु इसके विपरीत अर्थश्लेष में किसी अनेकार्थक शब्द का प्रयोग नहीं होता, अपितु एक अथवा कई एकार्थक शब्द स्वाभाविक रूप से दो अर्थों का कथन करते हैं, तथा इसमें किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से किसी प्रकार की चमत्कार-हानि भी नहीं होती। उदाहरणार्थ—

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर छबि चारु।
सेवक जन जड़ता हरन हरि! श्रिय करहु अपारु॥

पहला अर्थ है—हे हरि अर्थात् हे विष्णु! आप के 'करन' अर्थात् हाथों में नित्य [सुदर्शन] चक्र शोभित रहता है, पीले अम्बर (वस्त्र) द्वारा आपकी शोभा अति सुन्दर है तथा आप सेवक जनों की मूर्खता को हरने वाले हैं, आप हमें अपार लक्ष्मी प्रदान करें।

दूसरा अर्थ है—हे हरि अर्थात् हे सूर्य! आप 'करन' अर्थात् किरणों के द्वारा [काल रूपी] चक्र से सुशोभित हैं, तथा पीले अम्बर अर्थात् आकाश से आप की छवि सुन्दर है।……इत्यादि।

इस पद्य में 'करन', 'अम्बर' तथा 'हरि' शब्द द्व्यर्थक हैं, और इन्हीं के कारण काव्य-चमत्कार है। इनके स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्दों के रख देने से यह चमत्कार नष्ट हो जाएगा। अतः यह शब्दश्लेष का उदाहरण है। किन्तु इधर इसके विपरीत—

रंचहि सौं ऊंचे चढ़ैं रंचहि सौं घटि जांहि।
तुला-कोटि खल दुहुंन की यही रीति जग मांहि॥

अर्थात्, इस जग में तुला की डण्डी तथा खल दोनों की गति एक-समान है, क्योंकि ये दोनों थोड़े मात्र से ऊंचे चढ़ जाते हैं और थोड़े मात्र से घट जाते हैं। इस पद्य में किसी अनेकार्थक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, 'रंचहि सौं ऊंचे चढ़ौं, रंचहि सों घट जांहि,' इन एकार्थक शब्दों का दूसरा अर्थ अश्लिष्ट पदों के प्रयोग के बिना—स्वाभाविक रूप से—ही कथित हुआ है, तथा इनमें किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से पद्य का काव्य-चमत्कार भी नष्ट नहीं होता। अतः यहां अर्थश्लेष है।

शब्दश्लेष को शब्दालंकार माना जाता है, और अर्थश्लेष को अर्थालंकार।

३. अभंगश्लेष : शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार

शब्दश्लेष के दो भेद माने जाते हैं सभंग और और अभंग। 'सभंग' से तात्पर्य है जहां दूसरे अर्थ का बोध शब्द को भंग करने पर ही प्राप्त हो, और

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'अभंग' से तात्पर्य है जहां शब्द का भंग न करना पड़े, स्वयं उस शब्द के अर्थ ही एक से अधिक हों। उदाहरणार्थ—'हे पूतनामारण में सुदक्ष'। यहां कृष्ण पक्ष में अर्थ है—'जो पूतना के मारण में निपुण' है, तथा राम के पक्ष में अर्थ है—'जो पूतनामा अर्थात् पवित्र नाम वाला है, तथा रण में निपुण है।' यहां 'पूतना-मारण' में सभंग श्लेष है। अभंग श्लेष का उपर्युद्धृत उदाहरण है—'करन कलित है चक्र नित……।' (देखिए पृष्ठ २०४)

कतिपय आचार्य सभंग श्लेष को तो शब्दालंकार मानते हैं, किन्तु अभंग श्लेष को अर्थालंकार मानते हैं। केवल सभंग श्लेष को शब्दालंकार स्वीकृत करने का कारण यह दिया जाता है कि 'जतुकाष्ठ-न्याय' के समान सभंग श्लेष के प्रसंग में पहले शब्द पर दूसरा शब्द विभिन्न होते हुए भी उस प्रकार चिपका रहता है जिस प्रकार काष्ठ पर जतु (गोंद), और ये दोनों शब्द स्वर और प्रयत्न के उच्चारण की दृष्टि से नितान्त भिन्न होते हुए भी एक ही प्रतीत होते हैं। यदि 'पूतना-मारण में सुदक्ष' काष्ठ है, तो 'पूतनामा, रण में सुदक्ष' जतु है, किन्तु ये दोनों विभिन्न न होकर एक हैं—परस्पर संश्लिष्ट हैं। अतः ऐसे पदों को शब्दश्लेष का उदाहरण मानना चाहिए।

इसके विपरीत अभंग श्लेष को अर्थालंकार मानने का यह कारण दिया जाता है कि इसमें दो शब्दों का नहीं अपितु दो अर्थों का ही संश्लेष रहता है। एक ही 'पीताम्बर' शब्द के दोनों अर्थ—'पीला वस्त्र' और 'पीला आकाश', परस्पर संश्लिष्ट हैं। अतः इसे अर्थालंकार मानना चाहिए न कि शब्दालंकार। यहां संश्लिष्टता दो अर्थों की है न कि दो शब्दों की। अतः यह अर्थश्लेष का ही विषय है, शब्दश्लेष का नहीं।

●

किन्तु मम्मट आदि परवर्ती आचार्य उक्त दोनों रूपों को शब्दश्लेष का ही विषय मानते हैं। सभंग श्लेष तो शब्दश्लेष है ही। अभंग श्लेष के सम्बन्ध में भी उनका कथन है कि शब्दगतता और अर्थगतता का निर्णायक आधार उपर्युक्त 'अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध' ही है। उदाहरणार्थ उक्त 'पीताम्बर' पद को शब्दश्लेष का विषय मानने का आधार भी उक्त सम्बन्ध ही है। 'पीताम्बर' शब्द को हटाकर इसके स्थान पर इसके पर्यायवाची शब्द 'पीला वस्त्र' अथवा 'पीला आकाश' रख देने पर श्लेष का चमत्कार नष्ट हो जाएगा। अतः अभंग श्लेष भी शब्दश्लेष ही है।

वादी का कथन था कि इन प्रसंगों में दो अर्थों का संश्लेष है न कि दो शब्दों का। किन्तु इधर ये परवर्ती आचार्य 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' (अर्थात् अर्थभेद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection.

के कारण एक अन्य शब्द की स्वीकृति कर लेनी चाहिए) तथा 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः' (अर्थात् प्रत्येक अर्थ पृथक् शब्द का सूचक रहता है) के आधार पर 'पीताम्बर' शब्द को एक शब्द न मानकर दो पृथक्-पृथक् शब्द ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो वादी का उक्त आक्षेप सभंग श्लेष पर भी एक रूप से घटित हो जाता है। यदि सभंग श्लेष में दो पृथक् शब्दों का संश्लेष होता है तो वहां अभंग श्लेष के समान दो पृथक् अर्थों का संश्लेष भी होता है। इस दृष्टि से वहाँ भी शब्दगतता और अर्थगतता दोनों पक्ष समान रूप से ही प्रबल हैं, अतः वहां किसी एक पक्ष का समर्थन करना समुचित नहीं है। अस्तु! इस निर्णय का एक ही आधार है, और वह है—अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध। यही कारण है कि अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों को भी, जिनमें अर्थ की भी अपेक्षा रहती है, शब्दालंकारों में परिगणित किया जाता है, न कि अर्थालंकारों में। इसी प्रकार अर्थश्लेष का निर्णायक तत्त्व भी उक्त सम्बन्ध ही है। उदाहरणार्थ—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

इस पद्य में तुला तथा खल की तुलना में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनके पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी श्लेष का चमत्कार यथावत् बना रह जाता है, अतः यह अर्थश्लेष का विषय है न कि शब्दश्लेष का।

निष्कर्षतः अभंग-श्लेष के समान सभंग-श्लेष को भी शब्दालंकार मानना चाहिए।

४. श्लेष अलंकार स्वतन्त्र है अथवा नहीं?

श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप से रह सकता है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच मतभेद है। इसी मत-भेद पर यहां प्रकाश डाला जा रहा है।[1]

●

उद्भट और रुय्यक का मन्तव्य है कि श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप से कभी नहीं रहता, शास्त्रीय शब्दावलि में कहें तो श्लेष अलंकार अन्य अलंकारों से विविक्त (रहित) कभी नहीं रहता। जहां इसकी स्थिति होगी वहां

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—काव्यप्रकाश नवम उल्लास, साहित्य-दर्पण दशम परि०, काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) पृष्ठ २३१-२३२।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कोई न कोई अन्य अलंकार अनिवार्यतः रहेगा, किन्तु इसका चमत्कार अन्य अलंकारों के चमत्कार को बाधित कर देता है, अतः वहां श्लेष अलंकार स्वीकृत किया जाता है।

इस सम्बन्ध में उनका प्रमुख तर्क यह है कि यदि श्लेष के होते हुए अन्य अलंकार माने जाएंगे तो श्लेष अलंकार निर्विषय हो जाएगा, अर्थात् इसके उदाहरण नहीं मिलेंगे। यद्यपि ये आचार्य काव्यशास्त्र के [अथवा किसी भी अन्य शास्त्र के] इस नियम से भली-भाँति परिचित हैं कि 'जो सबसे अन्त्य में प्रतीत हो वही प्रधान, पोष्य एवं उपस्कार्य माना जाता है', तथापि उनके विचार में श्लेष अलंकार के प्रसंग में यह नियम शिथिल करना पड़ेगा, अन्यथा किसी अन्य अलंकार की स्वीकृति कर लेने पर श्लेष सदा अप्रधान (पोषक) बना रहने के कारण अलंकार-पद से च्युत हो जाएगा।

किन्तु इधर मम्मट और विश्वनाथ इस स्थिति को सदा स्वीकार नहीं करते। इनके मत में श्लेष अलंकार कभी अन्य अलंकारों से स्वतन्त्र रहता है और कभी नहीं रहता। जहां वह स्वतन्त्र नहीं रहता वहां कभी तो इसका चमत्कार अन्य अलंकारों के चमत्कार को बाध देता है और कभी स्वयं बाधित होकर उसका पोषक बन जाता है। इस प्रकार इन आचार्यों के मत में श्लेष अलंकार की स्थिति तीन विकल्पों में सम्भव है—

१. श्लेष स्वतन्त्र रूप में रहता है।

२. श्लेष अन्य अलंकारों का बाधक बन जाता है।

३. श्लेष अन्य अलंकारों का पोषक बन जाता है।

इनमें से प्रथम दो विकल्प ही श्लेष अलंकार से सम्बद्ध हैं।

सर्वप्रथम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जहां केवल श्लेष अलंकार का चमत्कार है—

(१) है पूतनामारण में सुदक्ष, जघन्य काकोदर था विपक्ष।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु॥

अर्थात् [राम और कृष्ण] ये दोनों प्रभु, शरण देने वाले और कृपालु हैं। राम पूतनामा अर्थात् पवित्र नाम वाले हैं और रण में सुदक्ष (निपुण) हैं; कृष्ण पूतना-मारण में दक्ष (निपुण) हैं। राम अपने विपक्षी काकोदर (इन्द्र के पुत्र जयन्त) की रक्षा करने वाले हैं, और कृष्ण अपने विपक्षी कालीय सर्प की भी रक्षा करने वाले हैं।

इस पद्य में उद्भट और रुय्यक के अनुसार वस्तुतः तुल्ययोगिता नामक

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अलंकार होना चाहिए था, क्योंकि इसमें दोनों प्रकृतों का, राम और कृष्ण का, एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है, पर श्लेष का चमत्कार तुल्ययोगिता के चमत्कार पर आच्छादित हो गया है। अतः यहां श्लेष अलंकार है।

किन्तु मम्मट और विश्वनाथ के मत में यहां केवल श्लेष का ही चमत्कार है। यहां तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त ही नहीं है। प्रथम तो राम और कृष्ण इन दोनों प्रकृत पक्षों का यहां एक धर्म से सम्बन्ध स्थिर ही नहीं किया गया। जैसे राम 'पूतनामा और रण में सुदक्ष' हैं, तो कृष्ण 'पूतना-मारण में सुदक्ष' हैं, इत्यादि। और दूसरे, इस पद्य में कवि को उक्त दोनों पक्षों के वाच्यार्थ अभीष्ट हैं और यही श्लेष का विषय है। अतः यहां श्लेष अलंकार पूर्णतः स्वतन्त्र रूप से ही है।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

(२) येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो।
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयोगङ्गां च योऽधारयत्॥
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः।
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥

—अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२२, सा० द० १०।१२ (वृत्ति)

इस पद्य में भी कवि को दोनों पक्षों [माधव अर्थात् विष्णु, और उमाधव अर्थात् उमा का धव (पति) अर्थात् महादेव] के अर्थ अभीष्ट हैं और ये दोनों ही वाच्यार्थ हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ कोई अन्य अलंकार भी नहीं है। अतः यहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत में श्लेष अलंकार है।

उधर उद्भट और रुय्यक के मत में भी यहां श्लेष अलंकार है, यद्यपि वस्तुतः यहां तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त था, क्योंकि दो प्रस्तुत विषयों का एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है। जैसे, विष्णुपक्ष में—**अगं गां च योऽधारयत्**, जिसने [कृष्णरूप से] अग (गोवर्द्धन पर्वत) को, और [कूर्मरूप से] गो (पृथ्वी) को धारण किया था। महादेव-पक्ष में—**गंगां च योऽधारयत्**, जिसने गंगा को धारण किया था। किन्तु तुल्ययोगिता का यह चमत्कार श्लेष के चमत्कार द्वारा बाधित हो जाता है।

निष्कर्षतः दोनों प्रकार के आचार्य यहाँ श्लेष अलंकार ही स्वीकार करते हैं, किन्तु अपने-अपने दृष्टिकोण से।

●

अब दूसरे प्रकार के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं जहाँ किसी अन्य अलंकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के रहते हुए भी श्लेष का चमत्कार प्रमुखतः स्वीकार किया जाने के कारण उन्हें श्लेष अलंकार का ही उदाहरण माना जाता है—

नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥ सा०द०१०।११ (वृत्ति)

अर्थात्, इस [सुन्दरी] की आँखें कमलों अर्थात् पद्मों और हरिणियों के सदृश हैं (मृगभेदेऽपि कमलः इति मेदिनीकोशः)। एक ओर पद्म तो अनेक लुब्ध (लोभी) शिलीमुखों (भ्रमरों) से आकुलीभाव (संकुलता) को प्राप्त वन (जल) में बढ़े हुए हैं, और दूसरी ओर मृग अधिक शिलीमुख (बाणों) वाले लुब्धों (शिकारियों) द्वारा आकुलीभाव (त्रासभाव) को प्राप्त हैं, तथा वन (जंगल) में पड़े हुए हैं।

उद्भट और रुय्यक के अनुसार इस पद्य में भी यद्यपि तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त है, क्योंकि यहां दो अप्रकृतों पद्म और हरिणी का एक धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया गया है[1], किन्तु श्लेष का चमत्कार इस अलंकार के चमत्कार को आच्छादित कर देता है। तुल्ययोगिता का चमत्कार श्लेष के आगे गौण है, वह इस अलंकार के चमत्कार का पोषण करता है। अतः यहां श्लेष अलंकार है। ठीक यही स्थिति मम्मट और विश्वनाथ को भी स्वीकृत है।

इस प्रकार श्लेष की इस दूसरी स्थिति में ये दोनों प्रकार के आचार्य परस्पर एक ही आधार पर सहमत हैं।

●

अब तीसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए जहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत में श्लेष स्वयं गौण बन कर किसी अन्य अलंकार की पुष्टि करता है। विरोधाभास और परिसंख्या अलंकारों के उदाहरण इसी श्रेणी में आते हैं—

(क) सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च ।

इस कथन में विरोध यह है कि 'बाल (अप्रौढ़) अन्धकार जिसके पास रहता है, ऐसे भास्वान् (सूर्य) की मूर्ति,' और इसका परिहार यह है कि वह (सुकन्या) बाल (केश) रूप अन्धकार जिसके पास रहता है ऐसी भास्वत् (चमकदार) मूर्ति वाली है। इस प्रकार यहाँ 'बाल' और 'भास्वत्' शब्दों में श्लेष का चमत्कार विरोधाभास के चमत्कार का पोषक है। अतः यहां 'श्लेष' की

१. साहित्यदर्पण की शालग्राम-कृत विमला टीका में इसे दीपक अलंकार का उदाहरण बताया गया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वीकृति न होकर विरोधाभास अलंकार माना जाता है। इसी प्रकार—

(ख) यस्मिंश्च राजनि जितजगति चित्रकर्मसु वर्णसंकराश्चापेषु गुणच्छेदाः × × ×, इत्यादि।

अर्थात्, जगत् को जीतने वाले उस राजा के राज्य में चित्रकारी में ही वर्णों (रंगों) का संकर (सम्मिश्रण) होता था [अन्यथा 'वर्णसंकर' नहीं था], धनुषों में ही गुणों (रस्सियों) का विच्छेद होता था [अन्यथा गुणों का कहीं नाश नहीं होता था।] इस कथन में भी श्लेष का चमत्कार परिसंख्या के चमत्कार का पोषक है। अतः यहाँ परिसंख्या अलंकार ही है।

●

इसी प्रसंग के सन्दर्भ में अब रुद्रट का निम्नोक्त कथन उल्लेखनीय है। इससे विषय के स्पष्टीकरण में एक नयी दिशा मिलेगी—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किंतु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥ का० प्र० ४।३२

अर्थात्, यद्यपि उपमा और समुच्चय ये दोनों स्पष्टतः अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों अलंकार [प्रकृत और अप्रकृत दोनों पक्षों के लिये] सामान्य अर्थात् एक-समान शब्दों को धारण करते हुए भी सम्भव होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपमा और समुच्चय अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों शब्दगत समानता पर [भी] आधारित रहते हैं। रुद्रट के इसी कथन को उद्धृत करते हुए मम्मट और उनके अनुकरण पर विश्वनाथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपमा अलंकार के अन्तर्गत उपमेय और उपमान में गुण और क्रिया का साम्य तो होता ही है, साथ ही उनमें शब्द-साम्य भी रहता है। उदाहरणार्थ—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव।

अर्थात्, यह नगर अब चन्द्र-बिम्ब के समान हो गया है, [क्योंकि एक ओर] चन्द्रबिम्ब 'सकल-कल है, अर्थात् सकल कलाओं से युक्त है, [तो दूसरी ओर] यह नगर भी 'सकलकल' अर्थात् कलकल (शोर) से युक्त है।

यह उदाहरण रुद्रट-प्रस्तुत नहीं है, इसे मम्मट और विश्वनाथ ने प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहां उपमा अलंकार मानना चाहिए, श्लेष अलंकार नहीं। यह उपमा 'सकलकल' इस शब्द-साम्य पर आधारित है। किन्तु हमारा विचार है कि यहां श्लेष का ही चमत्कार है। निस्सन्देह यहां कवि का उद्दिष्ट उपमा की स्थापना है किन्तु यह उपमा श्लेष से ही चमत्कृत होता

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

है, उपमा का चमत्कार उसे गौण प्रतीत होता है, यहां तक कि सुरुचिपूर्ण पाठक को ऐसे स्थलों में उपमा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है। वस्तुतः कवि की विवक्षा से बढ़कर सहृदय का भावोद्वेलन ही काव्यगत सौन्दर्य का निर्णायक होता है। अतः उक्त कथन में उपमा अलंकार के स्थान पर श्लेष अलंकार ही मानना चाहिए। वस्तुतः यहां भी वही स्थिति मान्य है जिसे 'नीतानामाकुलीभावम्........'उपर्युक्त पद्य में दोनों प्रकार के आचार्यों ने स्वीकार करते हुए तुल्ययोगिता के स्थान पर श्लेष का चमत्कार माना था। अस्तु ! हाँ, 'सकलकलम् ....' इस कथन में यदि हम चाहें तो श्लेष को उपमापुष्ट, उपमाश्रित, उपमाजन्य, उपमामूलक, उपमागर्भित आदि में से किसी एक विशेषण के साथ समन्वित कर सकते हैं। जब श्लेषमूलक विरोधाभास, परिसंख्या आदि अनेक अलंकार स्वीकृत किये जाते हैं तो उपमामूलक श्लेष अलंकार स्वीकृत करने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ठीक यही स्थिति रहीम के निम्नोक्त दोहे की भी है। यहां भी उपमा के स्थान पर श्लेष अलंकार ही मान्य है—

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो करै बढ़े अन्धेरो होय॥

वस्तुतः मम्मट और विश्वनाथ को उक्त उद्धृत कारिका से पूर्व रुद्रट की इससे पहली कारिका भी उद्धृत करनी चाहिए थी—

भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलंकारम्।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चययोः॥ का०अ० ४।३१

अर्थात् 'भाषा-श्लेष को छोड़कर [अपने इतर प्रकारों से युक्त] यह [श्लेष अलंकार] अन्य अलंकारों का भी प्रायः स्पर्श करता है, [और जब वह] उपमा और समुच्चय का [स्पर्श करता है तो अत्यधिक] वैचित्र्य (चमत्कार) को धारण कर लेता है। वस्तुतः रुद्रट यहां दण्डी के इस कथन से ही प्रभावित हैं कि 'श्लेष अलंकार प्रायः सभी वक्रोक्तियों (अर्थात् अलंकारों) की शोभा को बढ़ा देता है—श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्। (का०द०२।२६३)

इस प्रकार हमने देखा कि रुद्रट के उक्त कथन में मूल प्रसंग श्लेष का है, और इसी के ही अधिक चमत्कार धारण करने की चर्चा उन्हें अभीष्ट है। स्वयं उनका उक्त उदाहरण—'सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते' इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि यहाँ उपमामूलक श्लेष है—प्रस्तुत नृप और अप्रस्तुत विष्णु के औपम्य से बढ़ कर यहाँ श्लेष का ही चमत्कार सहृदयहृदयहारी है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसी प्रसंग से सम्बद्ध एक शंका मम्मट एवं विश्वनाथ ने उपस्थित की है कि यदि 'सकलकलम्……'इत्यादि स्थलों में उपमा के स्थान पर शब्द-श्लेष का चमत्कार माना जाए तो 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इस उदाहरण में पूर्णोपमा के स्थान पर अर्थश्लेष ही मानना चाहिए, क्योंकि 'मनोज्ञ' शब्द द्व्यर्थक न सही, पर कमल की 'मनोज्ञता' और मुख की 'मनोज्ञता' में तो अन्तर है ही, अर्थश्लेष की परिभाषा भी यही है—

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् । (सा० द० १०।५८)

स्पष्ट है कि 'मनोज्ञ' शब्द का यहाँ 'सौन्दर्य' की ओर संकेत है जो कि कमलगत सौन्दर्य और मुखगत सौन्दर्य दोनों का वाचक है । इन दोनों सौन्दर्यों में निस्सन्देह पार्थक्य एवं अन्तर है । अतः जिस प्रकार 'सकलकलम्……' इस उपर्युक्त उदाहरण में उपमा को गौण समझ कर शब्दश्लेष माना जाता है, उसी प्रकार 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' में भी उपमा को गौण समझ कर अर्थश्लेष मानना चाहिए । किन्तु मम्मट का यह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी इस दृष्टि से अमान्य है कि यहां भी सहृदय का भावोद्वेलन ही निर्णायक आधार है । स्वयं मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' में यदि उपमा अलंकार का चमत्कार मान्य है, और निम्नोक्त पद्य—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

में अर्थश्लेष का, (यद्यपि दोनों में साम्यता-तत्त्व लगभग एक समान है, तो इसका एक मात्र कारण सहृदय का भावोद्वेलन ही है । अतः केवल इसी आधार पर 'सकलकलम्…… …आदि कथनों में कवि द्वारा साम्यता के उद्दिष्ट रहने पर भी सहृदय का पलड़ा अत्यधिक भारी मान कर शब्दश्लेष स्वीकार करना चाहिए, उपमा नहीं ।

निष्कर्षतः—

१. श्लेष अलंकार का क्षेत्र स्वतन्त्र भी रहता है, तथा अन्य अलंकारों से युक्त भी ।

२. जहां श्लेष के साथ अन्य अलंकार रहते हैं वहां कभी यह उनसे पुष्ट होता है और कभी उनका पोषक रहता है ।

३. किन्तु उक्त तीनों स्थितियों का निर्णायक आधार सहृदय का भावोद्वेलन है, न कि कवि की विवक्षा ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: १९ :

हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार

उद्भट अलंकार-सम्प्रदाय के एक स्तम्भ माने जाते हैं। उनका 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ अलंकार-निरूपक ग्रन्थ है। उनका 'भामह-विवरण' ग्रन्थ शताब्दियों पर्यन्त अप्राप्य रहा है।[1] 'भामह-विवरण' नाम से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ अलंकार-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' का विवरण (व्याख्या, टीका, भाष्य आदि) प्रस्तुत करता होगा, या उसी के आधार पर निर्मित अलंकार-सम्प्रदाय का एक व्याख्यात्मक ग्रन्थ रहा होगा। तात्पर्य यह कि भामह और दण्डी के समान उद्भट भी अलंकारवादी आचार्य थे।

यदि इन तीनों आचार्यों के अलंकार-प्रकरणों की तुलना की जाए तो दण्डी प्रायः भामह के उपजीव्य ठहरते हैं, और उद्भट प्रायः भामह और दण्डी दोनों के —अलंकारों के स्वरूप-निर्धारण में भी और अलंकारों के क्रम-विन्यास में भी। हाँ, दण्डी ने भामह द्वारा प्रस्तुत, और उद्भट ने भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत कतिपय अलंकारों को अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया। इनके सम्बन्ध में यह शंका उपस्थित होती है कि उत्तरोत्तर एक दूसरे के उपजीव्य होते हुए भी पुराने अलंकारों को छोड़ने के सम्बन्ध में इनका क्या दृष्टिकोण रहा होगा। उदाहरणार्थ, उद्भट ने अन्य अलंकारों के अतिरिक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया, जबकि इनसे पूर्ववर्ती दोनों आचार्यों ने इन्हें किसी न किसी रूप में उल्लिखित किया है। 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के सम्पादक श्री० नारायणदास बनहट्टी ने अपनी भूमिका में इस स्वाभाविक शंका का समाधान करने का प्रयास किया है। उन्होंने कश्मीरी और अकश्मीरी काव्यशास्त्रियों में अन्तर निर्धारित करते हुए अनेक कारणों में से एक कारण यह भी दिया कि कश्मीरी आचार्यों ने उक्त तीनों अलंकारों को नहीं माना, और अकश्मीरी आचार्यों ने इन्हें माना है। कश्मीरी आचार्यों में उन्होंने भामह, उद्भट, रुद्रट,

---

१. देखिए पृष्ठ १४, पादटिप्पणी १

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रुय्यक और मम्मट का उल्लेख किया और अकश्मीरी आचार्यों में दण्डी, वामन, भोजराज, हेमचन्द्र और वाग्भट (वाग्भटालंकार के कर्त्ता) का।[1]

किन्तु यदि इन आचार्यों के ग्रन्थों को इस दृष्टि से देखें तो वस्तुस्थिति किंचित् भिन्न प्रतीत होती है। एक ओर कश्मीरी आचार्यों में रुद्रट ने इन तीनों अलंकारों का निरूपण किया है; तथा मम्मट ने हेतु और लेश को तो नहीं माना पर सूक्ष्म को माना है। दूसरी ओर अकश्मीरी आचार्यों में वामन, हेमचन्द्र और वाग्भट ने इन तीनों अलंकारों को स्थान नहीं दिया, और भोजराज ने हेतु और सूक्ष्म को तो स्थान दिया, पर लेश को नहीं। और, इस अध्ययन से इन अलंकारों के स्वरूप के सम्बन्ध में एक रोचक सी विवरणात्मक गाथा हमारे सम्मुख आ जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि ये अलंकार प्रारम्भ से ही विवादास्पद रहे हैं।

●

भामह ने अलंकारों के सम्बन्ध में 'वक्रोक्ति' को एक अनिवार्य तत्त्व ठहराया है।[2] वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दालंकार नामक एक अलंकार नहीं है। उनका यह शब्द पारिभाषिक है, जिसका अभिप्राय है—विशेष प्रकार का चमत्कारपूर्ण कथन। भामह के मत में हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं मानना चाहिए, क्योंकि ये अलंकार 'वक्रोक्ति' का अभिधान न करके 'समुदाय' का ही अभिधान करते हैं—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ का०अ० २।८६

'समुदाय' शब्द से भामह का तात्पर्य क्या था—इसका यथावत् उत्तर दे सकना कठिन है, तो भी उक्त कथन से प्रतीत होता है कि 'समुदाय' से उनका अभिप्राय होगा वक्रोक्ति का अभाव। इसी प्रसंग में उन्होंने 'वार्त्ता' शब्द का भी प्रयोग किया है—

गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते॥ का० अ० २।८७

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह (पूना-संस्करण), इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ १७-२०

२. **सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।**
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ काव्यालंकार २।८५।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

अर्थात् 'सूर्य डूब रहा है,' चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी अपने घोंसलों को जा रहे हैं' इस वाक्य को काव्य कौन कहेगा ? यह तो केवल 'वार्त्ता' मात्र है।

उक्त स्थलों के आधार पर कहा जा सकता है कि भामह के मत में—

(१) 'वार्त्ता' और 'समुदाय' शब्द परस्पर पर्याय-से हैं, और 'वक्रोक्ति' शब्द के विपरीतार्थक हैं।

(२) यदि 'वक्रोक्ति' साधारण वार्त्ता से ऊपर उठ कर असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण कथन-विशेष है तो 'वार्त्ता' अथवा 'समुदाय' शब्द साधारण बातचीत के समानार्थक हैं।

(३) उक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार वक्रोक्ति-तत्त्व से शून्य होने के कारण अलंकार-कोटि में नहीं आने चाहिएं, ये केवल वार्त्ता-मात्र हैं।

●

१. हेतु

किन्तु आगे चल कर दण्डी ने भामह का खुले शब्दों में प्रतिवाद करते हुए कहा कि ये तीनों तो वाणी के उत्तम भूषण हैं : **हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।** (काव्यादर्श २।२३५)। दूसरे शब्दों में, इन्हें भामह के समान अलंकार न मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। भामह ने 'सूर्य डूब गया है ·······'आदि जिस वाक्य को 'वार्त्ता' मात्र माना था, दण्डी ने उसे ही उद्धृत करते हुए कहा कि यह वाक्य एक कालावस्था अर्थात् संध्याकाल का ज्ञापक है—

गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने॥ काव्यादर्श २।२४४

अतः यहां उन्होंने हेतु अलंकार के दो भेदों—कारक हेतु और ज्ञापक हेतु— में से ज्ञापक हेतु की स्वीकृति की है। इस प्रकार दण्डी के मत में ज्ञापक हेतु वहाँ मानना चाहिए जहां केवल कारण के कथन-मात्र से कार्य अथवा अभीष्ट कथन स्वतः ज्ञाप्य हो जाए।

दण्डी के इस कथन से यह भी प्रतीत होता है कि भामह के उक्त पद्य में विवेच्य तीन अलंकारों में से केवल हेतु अलंकार का ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, शेष दो अलंकारों का नहीं।

---

१. 'गतोऽस्तमर्कः' यह उदाहरण काव्यशास्त्रियों में बहुचर्चित रहा है। इसे ध्वनिवादियों ने वस्तु-ध्वनि के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

●

भामह के समय में हेतु अलंकार का प्रचलित स्वरूप क्या होगा इसका निश्चय करना कठिन है। जिस उपर्युक्त उदाहरण में भामह ने अलंकार नहीं माना, उसी में दण्डी ने ज्ञापक हेतु माना है। यदि दण्डी की यह धारणा भामह की प्रतिक्रिया-स्वरूप है तो भामह के समय में हेतु अलंकार का स्वरूप वही स्वीकृत करना चाहिए जो दण्डी के समय में था। इधर दण्डी ने भी इसका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। इनके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि कारण और कार्य का एक साथ रहना दण्डिसम्मत हेतु अलंकार है। कार्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा शब्दोपात्त रहे, प्रतीयमान भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, उक्त 'गतोऽस्तमर्कः ······ ' आदि पद्य में केवल कारणों अथवा ज्ञापकों का निर्देश किया गया है, सन्ध्या-रूप कार्य अथवा ज्ञाप्य प्रतीयमान है। इसी प्रसंग में दण्डी का एक और उदाहरण लीजिए जिसमें उन्होंने उक्त उदाहरण के समान कार्य (ज्ञाप्य) को भी शब्दोपात्त रखा है—'हे सखि ! तेरा काम-पीड़ित मन तेरे शरीर की गर्मी से स्पष्ट बोधित हो रहा है, जो न तो चन्द्रमा की किरणों द्वारा नष्ट होती है, और न चन्दन-जल द्वारा साध्य होती है'—

अवध्यैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम् ।
देहोष्मभिः सुबोधं ते सखि कामातुरं मनः ।। काव्यादर्श २।२४५

'तेरा मन कामातुर है' यह ज्ञाप्य वाक्य है, जिसे स्पष्ट शब्दों द्वारा कह दिया गया है।

उक्त दोनों उदाहरण ज्ञापक हेतु के थे। कारक हेतु से इसका अन्तर समझने के लिए दण्डि-प्रस्तुत कारक हेतु का एक उदाहरण लीजिए—'यह मलय-पवन चन्दन-वन को कम्पित करके तथा मलय पर्वत के झरनों का स्पर्श करके पथिकों के विनाश के लिए उपस्थित हुआ है'—

चन्दनारण्यमाधूय स्पृष्ट्वा मलयनिर्झरान् ।
पथिकानामभावाय पवनोऽयमुपस्थितः ।। काव्यादर्श २।२३८

यहां पथिकों का विनाश 'कार्य' है, तथा मलयपवन 'कारक हेतु' है। इस प्रकार दण्डी के मत में हेतु अलंकार के उपर्युक्त तीन प्रमुख रूप हैं।

●

हेतु अलंकार की प्रथम बार स्पष्ट परिभाषा रुद्रट ने प्रस्तुत की—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कार्य के साथ कारण का अभेद-कथन ।[1] किन्तु हेतु का यह स्वरूप दण्डि-प्रस्तुत स्वरूप से भिन्न हो गया । कारण और कार्य का एक-साथ रहना अलग बात है और कारण और कार्य का अभेद-कथन अलग बात । उदाहरणार्थ, निम्नोक्त पद्यार्थ में कारण और कार्य का अभेद-कथन होने के कारण रुद्रट ने हेतु अलंकार माना है—'यह सुन्दर [वसन्त-] काल अब आ गया है जो कि बहुत से कमलों का विकास है, सकल भ्रमरों का मद है, कोकिलों का आनन्द है, तथा लोगों को उत्कण्ठित करने वाला है ।'[2] इस कथन में वसन्त-काल को 'कमलों का विकास करने वाला' आदि न कहा जाकर 'कमलों का विकास' आदि कहा जाने के कारण हेतु अलंकार की स्वीकृति की गयी है। इसी प्रसंग में एक अन्य उदाहरण रुद्रट-कृत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने प्रस्तुत किया है—

आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया ।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम् ॥

—काव्यालंकार ७।८३ (टीकाभाग)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि रुद्रट का हेतु अलंकार दण्डी के हेतु अलंकार से भिन्न हो गया है ।

रुद्रट के उपरान्त उत्तरध्वनिकाल में केवल भोजराज, अग्निपुराणकार और अप्पय्यदीक्षित ने हेतु अलंकार की परिभाषा प्रस्तुत की । इनमें से अग्नि-पुराण की परिभाषा में दण्डि-सम्मत स्वरूप की छाया है,[3] भोजराज की परि-भाषा में कोई नवीनता नहीं है,[4] और अप्पय्यदीक्षित-सम्मत हेतु की परिभाषाओं में दण्डी और रुद्रट दोनों के मतों की स्वीकृति है—कारण और कार्य का एक साथ वर्णन भी हेतु कहाता है, तथा कारण और कार्य की एकता को भी हेतु कहते हैं ।[5]

---

१. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र ।
सोऽलंकारो हेतुः स्याद् × × × ॥ काव्यालंकार ७।८२

२. अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥ वही ७।८३

३. सिषाधयिषतार्थस्य हेतुर्भवति साधकः ।
कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्युपजायते ॥ अग्निपुराण ३३४।२९,३०

४. सरस्वतीकण्ठाभरण ३।१२

५. (क) हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते ।
(ख) हेतुर्हेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित् प्रचक्षते । कुवलयानंद १६७, १६८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किन्तु दण्डी और अप्पय्यदीक्षित के बीच 'हेतु' की अवहेलना भी होती रही—एक तो इस रूप में कि भोजराज आदि उपर्युक्त तीन आचार्यों को छोड़-कर किसी ने इसका नामोल्लेख तक नहीं किया, और दूसरी इस रूप में कि मम्मट जैसे तत्ववेत्ता आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में इसका खण्डन प्रस्तुत करके भामह की पुनःस्मृति दिला दी। प्रथम प्रकार की अवहेलना इतनी चिन्त्य नहीं है जितनी कि दूसरी प्रकार की। मम्मट के खण्डन का आधार वही रहा जो भामह का था। अन्तर केवल शब्दावलि में है। भामह ने इसमें 'वक्रोक्ति के अनभिधान' के कारण इसकी अस्वीकृति की, और मम्मट ने 'वैचित्र्य के अभाव' के कारण। रुद्रट-सम्मत 'हेतु' के स्वरूप का खण्डन करते हुए उन्होंने इसका अन्तर्भाव काव्यलिंग अलंकार में स्वीकृत किया है—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः।' इति हेत्वलंकारो न लक्षितः। 'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। 'अविरलकमलविकासः·······' इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वलंकारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिंगमेव हेतुः॥

—काव्यप्रकाश १०।५२५ पद्य (वृत्ति)

किन्तु मम्मट की यह मान्यता विचारणीय है। एक ओर 'आयुर्घृतम्' जैसे वाक्यों में उनके कथनानुसार वैचित्र्य के अभाव के कारण 'हेतु अलंकार' के सद्भाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता [यद्यपि **'आयुर्घृतम्'** में उन्होंने स्वयं सारोपा लक्षणा की स्वीकृति की है], और दूसरी ओर **'अविरलकमलविकासः····'** जैसे पद्यों में प्रथम तो उक्त अभाव के कारण 'हेतु' अलंकार नहीं है, और यदि स्वीकृत कर भी लिया जाए तो उनके द्वारा सम्मत काव्यलिंग अलंकार ही 'हेतु' है। किन्तु उनके ये दोनों कथन परस्पर-विरोधी हैं। जब तथाकथित 'हेतु' अलंकार के उदाहरणों में 'वैचित्र्य का अभाव' मान लिया गया तो उन्हें काव्यलिंग का उदाहरण मानना समुचित प्रतीत नहीं होता।

●

वस्तुतः हमारे विचार में मम्मट-सम्मत काव्यलिंग का स्वरूप रुद्रट-सम्मत 'हेतु' से भिन्न है। मम्मट-सम्मत काव्यलिंग का स्वरूप है—**'काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता,'** अर्थात् हेतु को काव्यलिंग कहते हैं और यह दो प्रकार का होता है— वाक्यार्थगत और पदार्थगत। वस्तुतः 'लिंग' शब्द का हेतु के अर्थ में प्रयोग तर्कशास्त्र में होता है, उस 'लिंग' शब्द से अन्तर बताने के लिए यहाँ इसे 'काव्यलिंग' नाम दिया गया है। स्पष्ट है कि मम्मट ने उक्त लक्षण में काव्यलिंग (अथवा हेतु) का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया। किन्तु उनके निम्नोक्त

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उदाहरण से प्रतीत होता है कि वे 'कारण' प्रस्तुत कर देने को काव्यलिंग (अथवा हेतु) अलंकार मानते हैं—

'हे शिव ! इस शरीर के धारण करने से मेरा यह अनुमान है कि मैंने पिछले जन्म में आपको नमस्कार नहीं किया होगा [अन्यथा मैं मुक्त हो गया होता], और इधर मैं अगले जन्म में भी आपको नमस्कार नहीं कर पाऊंगा, क्योंकि इस जन्म में आपको नमस्कार कर लेने के कारण [आपकी कृपालुतावश] मैं मुक्त हो जाऊंगा और अगला शरीर धारण ही न कर पाऊंगा। अतः अब इन दोनों अपराधों को क्षमा कर दीजिए।'[1]

इस कथन में महेश से क्षमा-प्रार्थना का कारण उपस्थित किये जाने के कारण 'काव्यलिंग' अलंकार की स्वीकृति की गयी है। अब इस उदाहरण की तुलना रुद्रट-प्रस्तुत उदाहरण 'अविरलकमलविकासः...' आदि से करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि रुद्रट-सम्मत 'हेतु' अलंकार मम्मट-सम्मत काव्यलिंग अलंकार से भिन्न है। वहां कार्य और कारण का (अविरल कमल-विकास और काल का) अभेद-कथन हुआ है, और यहाँ कार्य (क्षमा-प्रार्थना) का कारण (नमस्कार न कर सकने का कारण) प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार हमारे विचार में ये दोनों तत्त्व अलग-अलग हैं, अतः ये दोनों अलंकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त वैचित्र्य के अभाव का प्रश्न भी 'अविरलकमलविकासः [कालः] आयाति' जैसे कथनों में उपस्थित नहीं होता। ऐसे कथन जहां एक ओर **'आयुर्घृतम्'** के समान स्वयं मम्मट द्वारा स्वीकृत सारोपा अथवा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण हैं, वहां दूसरी ओर 'विशेषण-विपर्य्यय' नामक नवीन अलंकार की भी स्मृति दिलाते हैं। अस्तु ![2]

---

१. वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन् मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि॥ का० प्र० १०।५०१

२. मम्मट के उपरान्त भी हेतु अलंकार से सम्बद्ध विवाद समाप्त नहीं हो गया। काव्यप्रकाश के टीकाकार नागोजी भट्ट ने इसे काव्यलिंग का पर्याय न मान कर 'प्रथम अतिशयोक्ति' में अन्तर्भूत किया है। किन्तु जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं हेतु अलंकार का चमत्कार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार्य होना चाहिए।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हेतु अलंकार के स्वरूप-निर्देश के उपरान्त अब लेश और सूक्ष्म अलंकारों को लीजिए।

२. लेश

सर्वप्रथम दण्डी ने लेश अलंकार का स्वरूप निम्नोक्त दो रूपों में निरूपित किया—

(क) लेश (स्वल्प) मात्र भी प्रकट होती हुई वस्तु के रूप को छिपाना, अथवा प्रकट होती हुई वस्तु को लेश (व्याज) द्वारा छिपाना ; और

(ख) लेशतः (व्याज से) स्तुति द्वारा निन्दा और निन्दा द्वारा स्तुति करना।

किन्तु आगे चल कर अप्पय्यदीक्षित ने दण्डी-प्रस्तुत उक्त दोनों रूपों में से पहले रूप की चर्चा नहीं की, और दूसरे रूप की चर्चा तो की है, किन्तु उसे लेश नाम नहीं दिया। उसने पहले प्रकार को व्याजोक्ति माना और दूसरे प्रकार को व्याजस्तुति। भोजराज और अप्पय्यदीक्षित के अनुसार दोष में गुण की और गुण में दोष की कल्पना करना भी लेश अलंकार कहाता है।[1] उदाहरणार्थ—

अखिलेषु विहङ्गेषु हन्त स्वच्छन्दचारिषु।
शुक ! पञ्जरबन्धस्ते मधुराणां गिरां फलम् ॥ कुवलयानन्द—१३८

(हे शुक ! स्वच्छन्दतापूर्वक उड़ने वाले सभी पक्षियों में से यदि तुझे पिञ्जरे में बन्द करके रख दिया जाता है तो यह तेरी मधुर वाणी का ही फल है।) इस पद्य में शुक के पञ्जरबन्ध रूप दोष को उसकी मधुरवाणी के रूप में निरूपित किया गया है। इसे भोजराज ने 'व्याजस्तुति' अलंकार नाम भी दिया है। किन्तु उनकी यह मान्यता स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि व्याजस्तुति अलंकार में स्तुति अथवा निन्दा के द्वारा विपरीतार्थ का अवगमन वाच्यार्थ से न होकर व्यंग्यार्थ द्वारा होता है, किन्तु लेश अलंकार में दोनों का निर्देश एक साथ रहता है।[2] उदाहरणार्थ, व्याजस्तुति का यह निदर्शन लीजिए—

साधु दूति ! पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ॥ कुवलयानन्द—७१

---

१. (क) लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।
(ख) लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥ का०द० २।२६५,२६८

२. दोषस्य यो गुणीभावो दोषाभावो गुणस्य यः।
स लेशः स्यात्ततो नान्या व्याजस्तुतिरपीष्यते ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण ४।५६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(हे दूति ! क्या कहने, इससे बढ़कर भला तू क्या कर्तव्य निभाती कि मेरे कारण तू [उस नायक द्वारा] दांतों से भी और नखों से भी क्षत की गयी है।) इस पद्य में नायिका ने दूती की स्तुति की है, किन्तु वस्तुतः उसे उसकी निन्दा करना अभीष्ट है जो कि वाच्य न होकर अवगमित है।

●

३. सूक्ष्म

भामह के समय में सूक्ष्म का स्वरूप क्या था, साधनों की अनुपलब्धि में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, यदि उनके समय में भी सूक्ष्म का स्वरूप वही था जो दण्डी के समय में था, तो उनका इस अलंकार पर उक्त 'वक्रोक्त्यनभिधान' रूप दोषारोपण अवश्य खटकता है, क्योंकि 'जनाकीर्ण स्थान पर भी नायक को मिलन-समय (सायंकाल) का सूक्ष्म संकेत देने वाली नायिका के इस चतुर काव्य-व्यवहार' में 'वैचित्र्य का अभाव' देखना इस अलंकार के चमत्कार के प्रति निस्सन्देह अन्याय करना है—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥ क०प्र० १०।५३१ (पद्य)

इस प्रकार दण्डी से लेकर अप्पय्यदीक्षित-पर्यन्त अधिकतर आलंकारिकों ने इस अलंकार की चर्चा एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में और लगभग एक-समान ही की है। इस दिशा में मम्मट का उदाहरण अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। नायिका की हथेली पर खड्ग का चित्र बनाकर सखी ने उसके विपरीत रति-कार्य को सूक्ष्म संकेत द्वारा व्यञ्जित कर दिया।[1]

●

इस प्रकार उक्त विकास-गाथा के निरूपण के उपरान्त इस सम्बन्ध में हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि—

१. 'गतोऽस्तमर्कः' वाक्य बिना किसी प्रसंग के, अपने आप में, किसी चमत्कार का द्योतक नहीं है—यह ठीक है, किन्तु किसी विशिष्ट प्रसंग के आलोक में यह वाक्य ध्वनि के उदाहरण-स्वरूप निस्सन्देह प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः भामह द्वारा ऐसे वाक्यों में किसी प्रकार की 'वक्रोक्ति'—काव्य-चमत्कृति--की अस्वीकृति मानना समुचित नहीं है। सम्भवतः उन्होंने किसी वर्गविशेष से पक्षपात करते हुए ऐसा लिखा हो।

---

१. वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुंकुमं क्वापि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥
—का० प्र० १०।५३०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. हेतु, लेश और सूक्ष्म ये तीनों काव्य-चमत्कारोत्पादक हैं, अतः इन्हें 'अलंकार' रूप में स्वीकृत करना चाहिए। इन्हें किसी अन्य अलंकार में अन्तर्भूत करना भी युक्ति-संगत नहीं है।

३. हेतु अलंकार के अप्पय्यदीक्षित-सम्मत दोनों रूप चमत्कारपूर्ण होने के कारण मान्य हैं। दण्डि-सम्मत हेतु भी अप्पय्यदीक्षित-सम्मत प्रथम हेतु होने के कारण मान्य है।

४. लेश का स्वरूप अप्पय्यदीक्षित के ही अनुसार ग्राह्य है, दण्डी के अनुसार नहीं।

५. भामह के अतिरिक्त शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने सूक्ष्म अलंकार का निरूपण किया है। निस्सन्देह यह अलंकार इस गौरव का अधिकारी है भी।

६. श्री० नारायणदास बनहट्टी का यह कथन मान्य नहीं है कि [अन्य आधारों के अतिरिक्त] हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों की क्रमशः अस्वीकृति और स्वीकृति के आधार पर [भी] कश्मीरी और अकश्मीरी आचार्यों के बीच विभाजन-रेखा खींची जा सकती है।

★

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: २० :

अभिनय, अभिनेता तथा प्रेक्षक

अभिनय उस कृत्य को कहते हैं जिसके द्वारा [अभीष्ट] विषय सामाजिकों के सम्मुख साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया जाता है—**सामाजिकानाम् आभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽनेनेति अभिनयः ।**

अभिनेता (अनुकर्ता अथवा नट) उसे कहते हैं जो अपने अभिनय(अनुकरण) द्वारा अनुकार्य (राम आदि) और प्रेक्षक के बीच सम्बन्ध स्थापित करके प्रेक्षक की रसस्वाद-प्राप्ति का कारण बनता है, और यह तभी सम्भव होता है जब अभिनेता के सफल अनुकरण के कारण प्रेक्षक अभिनेता को ही अनुकार्य समझने लगता है ।

किन्तु यह कैसे सम्भव होता है क्योंकि न तो अनुकर्त्ता (अभिनेता) ने अनुकार्य को देखा होता है और न प्रेक्षक ने । अतः न तो अनुकर्त्ता अनुकार्य का [यथावत्] अनुकरण कर सकता है और न प्रेक्षक अनुकर्त्ता को देखते हुए भी इसे [वास्तविक] अनुकरण मान सकता है ।[1]

इस स्वाभाविक शंका के समाधान के लिए नाटचदर्पण के प्रणेता रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कतिपय कारण प्रस्तुत किये हैं[2]—

१. अभिनेता कवि-प्रणीत राम आदि के चरित को पढ़ अथवा सुनकर अत्यन्त अभ्यास द्वारा ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसने अनुकार्य को स्वयं

---

१. रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात् । अनुकर्ता हि अनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तुमलम् । प्रेक्षकोऽपि चाऽदृष्टानुकार्यो नाऽनुकर्त्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते । —हि० ना० द० पृष्ठ ३५२

२. इस निबन्ध का लेखक यह निर्दिष्ट करने में असमर्थ है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र इस प्रकरण के लिए किन पूर्ववर्ती आचार्यों के पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से ऋणी हैं ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

देख-सा लिया है और पुनः यह अध्यवसान करने लगता है कि मैं उसी का ही अनुकरण कर रहा हूँ।[1]

२. यहाँ एक शंका की जा सकती है कि कविजन अपने नाटकों में राम आदि अनुकार्य की अवस्था का चित्रण कैसे कर पाते हैं जबकि इन्होंने भी तो उनको नहीं देखा होता। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'त्रिकालदर्शी' ऋषिजनों से उन्हें यह ज्ञान मिलता है, जिसके आधार पर वे अपने नाटकों का निर्माण करते हैं, तथा इनके ही ज्ञान पर पूर्ण विश्वास करने से प्रेक्षक भी नट को अनुकार्य समझ लेता है।[2]

३. वस्तुतः नट को यह ज्ञात नहीं होता कि अनुकार्य ने अमुक अवसर पर किस रूप में हास्य, रोदन आदि किया होगा, अतः वह लोक-व्यवहार का (लोक में विभिन्न अवसरों पर हंसने और रोने वाले व्यक्तियों का) अनुकरण कर रहा होता है।[3]

४. इधर प्रेक्षक भी यद्यपि देश-काल के भेद के कारण नट को रामादि समझने में असमर्थ होता है तो भी नट द्वारा उच्चरित रामादि के शब्द-संकेतों के श्रवण से, तथा अत्यन्त मनोरम संगीत आदि के वशीभूत होने के कारण वह उस नट को रामादि समझने लगता है जो [आंगिक, आहार्य, वाचिक और सात्त्विक इन] चार प्रकार के अभिनय से आच्छादित हो चुका होता है, अर्थात् उसका अपना वास्तविक रूप रामादि के रूप के नीचे ढँप गया होता है। ऐसी स्थिति में प्रेक्षक रामादि की सुख अथवा दुःख रूप अवस्थाओं में लीन हो जाता है।[4]

५. इसके अतिरिक्त अनुकर्त्ता को अनुकार्य समझ लेने का कारण

---

१. तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्य अत्यन्ताऽभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमि इत्यध्यवस्यति।—हि०ना०द० पृष्ठ ३५२

२. इह तावद् इत्थमाकृतिरित्थं गतिः × × × इत्येवमशेषमपि रामादि-ललितम् ऋषीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासात् नटस्य साक्षाद् दर्शनमेव।—वही, पृष्ठ ३५३

३. परमार्थस्तु लोकव्यवहारमेवाऽयमनुवर्तते।—वही

४. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसङ्केतश्रवणाद् अतिहृद्यसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूपदेशकालभेदेनाऽतथाभूतेष्वपि अभिनेयचतुष्टयाऽऽच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटे पुरामादीनध्यवस्यति। अतएव तासु तासु सुखदुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति।—वही, पृष्ठ ३५२-३५३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भ्रान्ति भी है, जिसके बल पर प्रेक्षक शृंगार आदि रसों का आस्वाद प्राप्त करता है—उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृङ्गारादयः, क्योंकि इसी भ्रान्ति के ही कारण स्वप्न में भी कामिनी, वैरी अथवा चोर आदि को देखकर स्वप्नद्रष्टा स्तम्भ आदि अनुभावों का अनुभव करते हैं।[1]

उक्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि कोई प्रेक्षक जब तक अनुकर्ता को कृत्रिम व्यक्ति समझ रहा होता है तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता।[2] किन्तु जब वह उसे अनुकार्य समझने लगता है तभी उसे रसास्वाद की प्राप्ति होती है। उसे अनुकार्य समझ लेने का कारण है उसका अभिनय-कौशल तथा अन्य रंगमञ्चीय मनोहारी व्यवस्था। इन दोनों को नाटचदर्पण के अनुसार 'भ्रान्ति' (चकाचौंध) भी कह सकते हैं। उधर अनुकर्ता का अभिनय-कौशल भी इसी अध्यवसान पर आधारित है कि वह अपने आप को अनुकार्य ही समझ ले, और यह तभी सम्भव होता है जब वह एक ओर तो कवि-निबद्ध नाटक का पुनः पुनः अभ्यास करता है, और दूसरी ओर लौकिक व्यवहार के अनुभवों द्वारा विभिन्न प्रकार के मनोभावों का प्रदर्शन करना सीखता है। शेष रहा कवि का प्रश्न कि उसे अनुकार्यों की विभिन्न मनोदशाओं का ज्ञान कैसे हो जाता है ? तो वह इसे ज्ञानचक्षुओं से देखने वाले ऋषियों से प्राप्त करता है।

●

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उक्त विवेचन अधिकांशतः मान्य है। उनका अन्तिम कथन किञ्चित् शिथिल है। इसका अभिप्राय केवल यही लिया जा सकता है कि कविजन काव्य-नाटक के निर्माण के समय अपनी कल्पना के बल पर जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वे शायद लगभग वैसे ही होंगे जैसे कि अनुकार्यों के साथ घटित हुए होंगे। जिसे आज का आलोचक कल्पना (इमैजिनेशन) कहता है उसे रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दों में 'ऋषियों की ज्ञानचक्षु' कह सकते हैं। स्वयं वाल्मीकि भी यदि राम के समय में रहे हों तो भी वे उनकी सर्वप्रकार की मनोदशाओं से अवगत नहीं होंगे। अतः उनकी ज्ञान-चक्षु को 'कल्पना' का पर्याय मान सकते हैं। इसी प्रकार भास, कालिदास

---

१. उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगारादयः। कामिनीवैरिचौरादीन् अधिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः कथम् अपरथा रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावाः प्रादुर्भवेयुरिति।— हि०ना०द० पृष्ठ ३५३

२. कृत्रिममेतद् इति जानन्तो [प्रेक्षकाः] न रामादिसुखदुःखेषु तन्मयीभवेयुः। — वही

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आदि नाटककारों ने अन्य ऋषियों (गुरुजनों) के सम्पर्क द्वारा अनुकार्य व्यक्ति की मनोदशाओं का ज्ञान प्राप्त किया होगा—यह मानना भी न तो व्यवहार-संगत है और न बुद्धि-संगत ।

हमारे विचार में अनुकार्य की स्थिति के अवबोध के लिए सर्वप्रमुख साधन है परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति । वस्तुतः इसी के ही बल पर कविजन राम आदि के परम्परागत अथवा लोकानुश्रुत रूप का चित्रण करते चले आये हैं । यद्यपि अपनी कल्पना के बल पर ये उनके चरित्र में इधर-उधर परिवर्तन भी कर देते हैं, तथापि उनके मूल रूप में, उनकी मूल भावना में, कोई अन्तर नहीं आता । वे अपने ही देश-विशेष अथवा काल-विशेष के व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किये जाते हैं, अन्य देश अथवा काल के व्यक्ति के रूप में नहीं । इसी प्रकार अभिनेता भी यद्यपि नाटक में निर्दिष्ट नाटककार (अथवा निर्देशक) के 'स्वगत, प्रकट, सावेग, सकोप, सहर्ष, तारस्वेरण' आदि निर्देशों द्वारा अभिनय-कौशल प्राप्त करता है, तो भी किसी व्यक्ति-विशेष के अभिनय करने का निर्देशन इसे लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है । विरही राम, विरही यक्ष और विरही पुरुरवा,—इन तीनों के विरह-विलाप में क्या अन्तर है, इसका ज्ञान उसे अथवा स्वयं उसके निर्देशक को केवल लोक-परम्परा द्वारा ही प्राप्त होता है । ठीक यही स्थिति प्रेक्षक की भी है । सीता के वियोग में 'राम' यदि रंगमंच पर बिसूरने लगता है तो भारतीय परम्परा से सुपरिचित प्रेक्षक का 'करुण' रस तत्क्षण के लिए हास्य-विनोद[1] में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इस परम्परा से अपरिचित किसी विदेशी प्रेक्षक के रसास्वाद में कोई अन्तर नहीं आता । बिसूरना भी करुण रस की अभिव्यक्ति का अनुभाव (कारण) बन सकता है, पर सामान्य नायक के अनुकरण-प्रसंग में, न कि राम जैसे धीरोदात्त नायक के प्रसंग में । इस रसभंग अथवा रसास्वाद का एक मात्र कारण है लोक-परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति । इसी कसौटी पर यदि कोई अभिनेता अभिनय करता है तो प्रेक्षक उसे अनुकार्य समझ कर रसास्वाद प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है ।

★

१. 'हास्य-विनोद' से तात्पर्य हास्य रस नहीं लेना चाहिए ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

: २१ :

एकांकी

कविता, नाटक, आख्यान आदि काव्य के ऐसे अंग हैं, जिनका सम्बन्ध मानव के रागात्मक तत्त्व के साथ अपेक्षाकृत अधिक रहता है और बौद्धिक तत्त्व के साथ कम। कलाकार इनके द्वारा सहृदय की रागवृत्ति को सजग कर देता है, परिणामतः उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिणाम इतना प्रत्यक्ष है कि इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। रागात्मक वृत्ति की सजगता से एक अप्रत्यक्ष परिणाम और भी होता है— सुगम रूप में सहृदय का बौद्धिक विकास अथवा उसकी ज्ञानवृद्धि। आधुनिक काव्यशास्त्री दूसरे परिणाम को न भी माने, पर है यह अवश्यम्भावी। हाँ, यह प्रत्यक्ष नहीं है अपितु अप्रत्यक्ष है; और इसकी अप्रत्यक्षता में ही ऐसी रचना का सौन्दर्य निहित है, अन्यथा वह कोरा उपदेशात्मक ग्रन्थ है—शुष्क दर्शन है।

कविता, नाटक और आख्यान में से नाटक के द्वारा उक्त दोनों प्रयोजन अपेक्षाकृत अधिक क्षिप्रता के साथ तथा अधिक प्रभावशाली रूप में सहृदय को प्राप्त होते हैं। इसी कारण नाटक को अन्य काव्यांगों की अपेक्षा अधिक रम्य माना गया है, तथा समस्त काव्य के दो स्थूल भेदों, श्रव्य और दृश्य, में से 'दृश्य' काव्य अकेले 'नाटक' को ही समाविष्ट किये हुए है, और 'श्रव्य काव्य' काव्य की शेष विधाओं को—यह भी नाटक की अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठता का ही द्योतक है। अस्तु ! नाटक शताब्दियों से विश्व के मानव का मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन करता आया है। भारत में भी नाटक-निर्माण की परम्परा संस्कृत-भाषा के माध्यम से प्रारम्भ हो गयी थी।

आगे चलकर कई कारणों से नाटक-रचना का प्रवाह मन्द पड़ गया। किन्तु आधुनिक युग में आकर अनेक भाषाओं में इसका पुनरुत्थान हुआ। प्रारम्भ में इसमें भारतीय नाट्य-विधान का पालन किया गया, किन्तु फिर अंग्रेज़ी-साहित्य के प्रभाव के कारण पाश्चात्य नाट्य-विधान का भी साथ ही साथ सम्मिश्रण होने लगा। अंग्रेज़ी-साहित्य का एक अन्य प्रभाव भी नाटक-निर्माण-कला पर पड़ा—वह था [अनेकांकी] नाटकों के साथ-साथ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एकांकियों का निर्माण। हिन्दी-साहित्य भी इस दिशा में पीछे न रहा। इसमें बंगला-साहित्य के प्रभाव-स्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग से नाटक-निर्माण की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी वह आज तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। किन्तु एकांकी का जो स्वरूप आज माना जाता है, उसके अनुसार एकांकी का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से न मानकर प्रसाद-युग से माना जाता है, क्योंकि प्रसाद से पूर्व-निर्मित एकांकी एतत्सम्बन्धी आधुनिक धारणाओं पर पूरे नहीं उतरते, तब शायद भारतेन्दु-युगीन नाटककार 'एकांकी' नाम से परिचित ही न होंगे; और इधर प्रसाद का 'एक घूंट', जिसका प्रकाशन सन् १९२९ में हुआ था, सर्वप्रथम ऐसा 'एकांकी' हैं, जो इन धारणाओं पर पर्याप्त अंश तक पूरा उतरता है।

वस्तुतः आधुनिक एकांकी के स्वरूप की निश्चेता धारणाएं भारतीय नाटच-विधान पर आधारित न होकर पाश्चात्य नाटच-विधान पर ही आधारित हैं। पर उधर भारतीय नाटच-विधान में भी एक अंक वाले नाटक (रूपकों और उपरूपकों) का भी उल्लेख मिलता है, इसलिए कुछ विद्वान् आधुनिक एकांकी को उससे प्रभावित और शृंखलाबद्ध रूप में आगत समझते हैं। अतः उसका एतत्सम्बन्धी संक्षिप्त परिचय देना अपेक्षित है।

●

भारत में संस्कृत भाषा में निर्मित काव्य के अन्य अनेक अंगों के समान नाटकों के बहुविध निर्माण के पश्चात् इनके भी वर्गीकरण का प्रश्न काव्य-शास्त्रियों के सम्मुख आया, और उन्होंने इसे पूर्ण मनोयोग के साथ सुलझाने का प्रयास किया। 'दृश्य काव्य' पहले प्रधान दो भेदों में विभक्त हुआ—रूपक और उपरूपक। फिर ये दोनों भेद क्रमशः दस और अठारह उपभेदों में विभक्त हुए। इन भेदों से नाटककारों की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है, और साथ ही काव्यशास्त्रियों की सूक्ष्म विभाजक शक्ति का भी। इन उपभेदों के नियत हो जाने के उपरान्त शताब्दियों पर्यन्त भारतीय काव्यशास्त्रियों ने दृश्य काव्य की अन्य विधाओं का न तो निर्माण किया और न किसी नूतन विधा की ओर संकेत किया। इस अभाव का स्पष्ट कारण यह है कि संस्कृत का नाटककार रूपक का निर्माण तो शताब्दियों पर्यन्त करता रहा, पर शिल्पविधि की दृष्टि से वह उसमें कोई नूतनता नहीं लाया। वस्तुतः उक्त २८ उपभेद अपने-आप में इतने अधिक और व्यापक थे कि नूतन शिल्पविधि की तो बात ही क्या, इन सब में रच[illegible] सुकर होगा—सुकर नहीं तो [illegible]चकर अवश्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होगा। यही कारण है कि विश्वनाथ के अनुसार इनमें से अनेक भेदों के तो उदाहरण ही नहीं मिलते, और कुछ के केवल एक-एक दो-दो मिलते हैं।

लक्ष्य-ग्रन्थ के उपरान्त लक्षण-ग्रन्थ का निर्माण होता है— इस सिद्धान्त के आधार पर आज का आलोचक यह मानने को विवश हो जाता है कि उक्त २८ उपभेदों के नामकरण से पूर्व ऐसे अनेक दृश्य-ग्रन्थ रचे गये होंगे जिनके आधार पर ये भेद निर्मित हुए, पर स्थिति इससे किंचित् भिन्न भी हो सकती हैं। वस्तुतः भारत के आचार्य ने हर शास्त्रीय क्षेत्र में अपनी वर्गीकरण-प्रियता तथा विस्तृत भेदोपभेद-कल्पना का इतना अधिक रूप प्रस्तुत किया है कि यह सोचने को भी विवश होना पड़ता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि इन भेदों में से अनेक भेदों का व्यावहारिक रूप तो कहीं उपलब्ध न हो, पर भारतीय आचार्य इनके सम्भाव्य वहुविध रूपों की कल्पना करता चला गया हो। उदाहरणार्थ, व्याकरण-ग्रन्थों में उल्लिखित अनेक अप्रचलित और अप्रख्यात रूप हमारी इस सम्भावना के समर्थक हैं जो व्याकरण-नियमों के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं, पर उनका प्रयोग शायद ही इन नियमों के निर्माण से पूर्ववर्ती साहित्यिक ग्रन्थों में हुआ हो। अस्तु ! हमारी यह सम्भावना भ्रान्त एवं अमान्य भी हो सकती है, पर यह तो निश्चित है कि रूपक के २८ उपभेदों में से अधिकांश से सम्बद्ध दृश्य काव्य उपलब्ध नहीं हैं—न इन भेदों के निर्माण से पूर्ववर्ती-काल में और न इससे परवर्ती-काल में। इस अभाव के दो कारण हो सकते हैं—एक यह कि ऐसे सभी ग्रन्थ थे अवश्य, पर फिर लुप्त हो गये, और दूसरा यह कि ऐसे सभी प्रकार के ग्रन्थ निर्मित ही नहीं हुए। अस्तु !

इन उपभेदों में से नाटक नामक उपभेद सर्वप्रमुख है—जिसकी रचना शताब्दियों पर्यन्त होती रही। नाट्य-विधानके अनुसार इसमें पांच या इससे अधिक अंक होते हैं। रूपकों में व्यायोग, रासक, भाण, वीथी और प्रहसन ये पांच उपभेद, और उपरूपकों में नाट्य-रासक, रासक, गोष्ठी, भाणिका, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका और प्रेंखण—ये नौ उपभेद ऐसे है, जिनमें एक अंक का विधान किया गया है। इन 'एक अंक' वाले रूपकों अथवा उपरूपकों में पारिस्परिक अन्तर निर्दिष्ट करते वाले तत्त्व हैं—इनकी कथावस्तु का वर्ण्य विषय, कथावस्तु की शृंखला-सूचक संधियों अथवा संध्यंगों की न्यूनता अथवा अधिकता, पात्रों की संख्या तथा उनकी जाति, गुण, कर्म, स्वभाव आदि, विशेष प्रकार के संवाद का प्रयोग, विशेष रस का परिपाक आदि। इस प्रकार ये सभी रूपक अथवा उपरूपक 'एक अंक' की दृष्टि से परस्पर समान होते हुए भी उक्त तत्त्वों की विभिन्नता के कारण अपनी विशिष्ट स्थिति बनाये रखते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उदाहरणार्थ, कथावस्तु के आधार पर व्यायोग, भाण और वीथी में यह अन्तर है कि व्यायोग में कथानक इतिहास अथवा पुराण पर आधारित होता है, और प्रहसन में यह कविकल्पित होता है। व्यायोग, भाण, वीथी और प्रहसन में पारस्परिक अन्तर यह है कि व्यायोग में वीर रस की प्रधानता रहती है, वीथी में शृंगार अथवा वीर रस की और भाण तथा प्रहसन में हास्य रस की। किन्तु इन विभाजक विशिष्टताओं के रहते हुए भी ये 'एक अंक' वाले दृश्य-काव्य वाह्य विधान की दृष्टि से लगभग समान ही हैं—वही नान्दी, सूत्रधार, स्वगत-भाषण, आकाशभाषित, भरतवाक्य आदि। किसी में ये सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं, और किसी में कम।

बस, आधुनिक एकांकियों का इन प्राचीन 'एक अंक' वाले रूपकों अथवा उपरूपकों के साथ एक तो यही अन्तर है कि इधर इनमें इन स्थूल रूढ़ियों को स्थान नहीं मिला। इनका शिल्प-विधान निजी है, इनसे नितांत स्वतंत्र है। इनमें दूसरा अन्तर अपेक्षाकृत अधिक प्रबल है। इनका कथानक आभि-जात्य वर्ग के स्थान पर जनसाधारण के दैनिक जीवन से लिया जाता है। इनमें बाह्य संघर्ष को इतना स्थान नहीं दिया जाता जितना कि आन्तरिक संघर्ष को। संस्कृत का व्यायोगकार परम्परागत रूढ़ि के अनुसार उच्चवंशो-द्भव एवं धीरोदात्त तथा प्रख्यात चरितनायक की अन्तिम सफलता को प्रारम्भ से ही मानकार चलता था, अतः उसे अन्तर्द्वन्द्व दिखाने की कदाचित् आवश्यकता नहीं थी, पर इधर आधुनिक एकांकीकार का चरितनायक साधारण जन का प्रतिनिधि होता है, अतः उससे अन्त में निश्चित सफलता की आशा नहीं की जा सकती, और न वह अनिवार्यतः किसी प्रख्यात एवं ऐतिहासिक घटना का पात्र होता है कि जिसकी सफलता को पहले से ही निश्चित मानकर एकांकी का आरम्भ किया जाए। परिणामतः उसका नायक अन्तर्द्वन्द्व में रत रहता है—वह संघर्ष करता हुआ विपदाओं का चीरकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। सामान्य व्यक्ति होने के कारण उसके सम्मुख पग-पग पर बाधाएं आती हैं, जिन्हें दूर करना वह अपना प्रथम कर्तव्य समझता है और इस प्रकार जीवन-दर्शन की विभिन्नता के कारण संस्कृत के 'व्यायोग' के चरितनायक से उसका चरित्र एवं व्यक्तित्व कोसों दूर जा पड़ता है। निःसन्देह यह अन्तर पाश्चात्य नाट्य-विधान को अपनाने के परिणाम-स्वरूप ही है।

●

एकांकी का जो आधुनिकतम स्वरूप आज निश्चित-सा हो गया है, उसकी उपज इग्लैंड में १९ वीं शती के अन्त में 'कर्टेन-रेज़र' (curtain

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

raiser) अथवा 'पट्ट उत्थापक' से मानी जाती है। कहा जाता है कि उस युग में इंग्लैंड में एक ऐसा शिष्ट वर्ग भी था, जो रात्रि को अधिक देर से भोजन करने का अभ्यासी वन गया था। व्यवसायी नाटक-कम्पनियों के अधिकारियों को नाटक प्रारम्भ करने से पूर्व उस वर्ग की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। किन्तु समय पर अथवा समय से किंचित् पूर्व आये हुए दर्शकों का भी समय-यापन करना आवश्यक था। इस उद्देश्य के लिए छोटे-छोटे नाटकों की रचना की गयी, और उन्हें रंगमंच के मुख्य परदे को उठाने से पूर्व अभिनीत कर लिया जाता, और फिर आवश्यकतानुसार मुख्य परदा उठा कर प्रधान नाटक का अभिनय प्रारम्भ कर दिया जाता। इसी कारण इन लघु-नाटकों को लाक्षणिक रूप में 'कर्टेन-रेज़र' की संज्ञा मिल गयी।

धीरे-धीरे नाटक की यह विधा भी लोकप्रिय वनती गयी। कहा जाता है कि सन् १९०३ में विलियम जेकब द्वारा रचित "मंकी'ज़ पा" (Monkey's paw) नामक कर्टेन-रेज़र को इतना अधिक पसंद किया गया कि इसे देख चुकने के वाद मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने पर दर्शक धीरे-धीरे प्रेक्षागृह छोड़कर वाहर जाने लगे। व्यवसायी रंगमंच को तो इससे अपने व्यवसाय को धक्का पहुंचने का भय उत्पन्न हो गया, और धीरे-धीरे उन्होंने इन लघु-नाटकों को अभिनीत करना बन्द कर दिया। पर इससे इस नाटक-विधा को क्षीणता के स्थान पर वल मिला। इसकी लोक-प्रियता ने इसे स्वतन्त्र रंगमंच प्रदान किया। इसका वहिष्कार इसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। पिछली अर्द्ध-शताब्दी में इस कला की आशातीत उन्नति हुई। इसे यूरोप और अमेरिका के अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों—इब्सन, शॉ, गाल्ज़वर्दी, मेतरलिंक, स्ट्रिंडबर्ग, चेखव, सिमोनौव, ओनील, काफ़मैन, बेरी, प्रीस्टले आदि ने समृद्ध वनाया। परिणामतः इस विधा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गयी, यह लोकप्रिय वनती चली गयी, और आगे चलकर इधर इसका सुप्रभाव हिन्दी नाटक-साहित्य पर भी पड़ा।

इसकी लोकप्रियता के सम्वन्ध में एक कारण यह वताया जाता है कि आज के संघर्षमय और व्यस्त जीवन में जनता के पास उपन्यास पढ़ने अथवा बड़े-बड़े नाटक देखने का समय नहीं है। परिणामतः, उपन्यास के स्थान पर कहानी का और नाटक के स्थान पर एकांकी का प्रचलन वढ़ गया है। निस्सन्देह एकांकी की लोकप्रियता का एक यह कारण भी है, पर भारत में यह कारण एकपक्षीय है। इस कारण का सम्बन्ध केवल बड़े-बड़े नगरों की जनता, केवल व्यस्त जनता, के साथ है, न कि छोटे-छोटे नगरों की जनता के साथ, जिसके पास समय का प्रायः अभाव नहीं रहता वह तो रात-रात भर रास, नौटंकियां

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आदि बड़े चाव से देखती रहती है।

एकांकी की लोकप्रियता के कतिपय अन्य कारण भी हैं, जो महत्त्व की दृष्टि से उक्त कारण की अपेक्षा किसी भी रूप में कम नहीं हैं। स्कूलों और कालेजों में विशिष्ट अवसरों पर आमन्त्रित विशिष्ट लोगों के मनोविनोदार्थ मनोरंजक कार्यक्रम को उपस्थित करने की अपेक्षा रहती है, जिसमें कुछ तो छात्रों की सुविधा को देखते हुए और कुछ आमन्त्रित वर्ग की सुविधा को देखते हुए कार्यक्रम थोड़े समय में समाप्त कर देना होता है। इसीलिए नाटक के स्थान पर 'एकांकी' प्रस्तुत कर देना अधिक व्यावहारिक और संगत रहता है। इधर, एकांकी के प्रसार व प्रचार में रेडियो का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। रेडियो के अधिकारी पन्द्रह मिनिट से लेकर एक घण्टे के अल्प समय तक किसी नाटक के वाचिक अभिनय द्वारा अपने श्रोताओं का मनोविनोद कर देना चाहते हैं, और इसके लिए इन्हें एकांकियों की सदा आवश्यकता रहती है। परिणामतः, प्रायः सभी विशिष्ट नाटककार 'एकांकियों' का भी सृजन करके उनकी इस आवश्यता को पूर्ण किया करते हैं। अन्य देशों के साथ-साथ ठीक यही स्थिति भारत की भी है। प्रायः सभी विशिष्ट नाटककारों ने एकांकियों का भी निर्माण किया है, तथा उनमें से अधिकांश एकांकी रेडियो से प्रसारित हो चुके हैं। स्थिति यह भी है कि कुछ एकांकी मूलतः लिखे ही रेडियो के लिए गये, और कुछ नाटककारों ने एकांकी-रचना का प्रारम्भ ही रेडियो के लिए किया। एकांकी की लोकप्रियता का एक अन्य कारण सुविधा भी है। दर्शकों की सुविधा का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त एकांकी के अभिनय के लिए पात्र कम चाहिएं, वस्त्र कम चाहिएं और फिर ऐतिहासिक एकांकियों को छोड़कर प्रायः अन्य सभी विषयों से सम्बद्ध एकांकी 'रोज़मर्रा' के वस्त्रों से ही अभिनीत हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त इसके अभिनय के लिए परदे, फ़रनीचर तथा अन्य 'साजोसामान' भी अपेक्षाकृत कम चाहिए। इन सभी कारणों से एकांकी लोकप्रिय बन गये हैं।

●

एकांकी-सम्बन्धी पाश्चात्य नाट्य-विधान और इधर भारतीय वातावरण की अनुकूलता—इन दोनों के घुल-मिल कर एक हो जाने से एकांकी का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख है उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. एकांकी में एक अंक होता है, उसमें तीन-चार दृश्य होते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. इसका कथानक जीवन की किसी एक घटना के आधार पर निर्मित होता है, पर उस घटना का अत्यन्त मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण होना आवश्यक

है । अन्तर्द्वन्द्व ऐसे कथानक का प्राण है । नाटक के असमान एकांकी में केवल एक मार्मिक चित्र सफलता के साथ उपस्थित कर देने में ही इस की सिद्धि है । अतः इसका कथानक यथासम्भव संक्षिप्त होना चाहिए, जिसके लिए पात्रों की अपेक्षा भी कम रहती है ।

३. एकांकी के संवाद संक्षिप्त, नपे-तुले और चुस्त होने चाहिएं—अनावश्यक और व्यर्थ विस्तार से नितान्त दूर । इन्हीं गुणों के बल पर वे घटना के चरम विकास की ओर क्षिप्रता-पूर्वक अग्रसर होते चले जाते हैं ।

४. कथानक की संक्षिप्तता एकांकी का प्रधान गुण है । इसके लिए आवश्यक है कि इसमें समय और स्थान की एकता के अतिरिक्त कार्य की भी एकता होनी चाहिए । इस 'एकता-त्रयी' को इब्सन की नाटचकला से प्रभावित माना जाता है । निस्सन्देह यही एकता एकांकी का व्यावर्तक धर्म है । इसी के निर्वाह-स्वरूप एकांकी के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों में क्षिप्रता और गतिमत्ता आती है, और इसी के कारण यह नाटक से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है । अतः जिस प्रकार कहानी को उपन्यास का लघु रूप नहीं कह सकते, उसी प्रकार एकांकी को भी नाटक का लघु रूप नहीं कह सकते ।

पीछे लिख आये हैं कि हिन्दी-नाटक-साहित्य में लघु नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से हो गया था । स्वयं भारतेन्दु जी ने 'नीलदेवी' और 'विषस्य विषमौषधम्'—ये दो एक-एक अंक वाले नाटक लिखे थे । भारतेन्दु के सहयोगियों—श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि ने भी एक-एक अंक वाले नाटकों का सृजन किया, पर केवल 'एक अंक' के ही सद्भाव को देखकर इन्हें एकांकी कहना—'एकांकी' शब्द से आज जो तात्पर्य लिया जाता है, वैसा एकांकी कहना—युक्तिसंगत नहीं है । उनमें एकांकी की उक्त विशेषताओं का प्रायः अभाव है । वे मूलतः भारतीय नाटचशास्त्र में स्वीकृत 'एक अंक' वाले नाटकों की शैली पर रचित हैं, अतः आस्तविक एकांकी का आरम्भ भारतेन्दु-युग से मानना समुचित नहीं है ।

जयशंकरप्रसाद-रचित 'एक घूंट' का उल्लेख ऊपर हो चुका है । यद्यपि इसमें भारतीय नाटच-विधान का वातावरण यत्र-तत्र उपलब्ध है, तथापि इसमें संघर्ष का तत्त्व भी विद्यमान है, समय और स्थान की एकता का भी इसमें निर्वाह हुआ है । अतः इस दृष्टि से हिन्दी में इसे एकांकी-प्रारम्भ का प्रथम सूत्र तो मान सकते हैं, किन्तु फिर भी यह पूर्णतः आदर्श एकांकी नहीं हैं । इससे लेखकों को 'एकांकी' लिखने की प्रेरणा नहीं मिल सकी । 'एक घूंट' के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निर्माण के आसपास सुदर्शन ने 'राजपूत की हार' 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' और 'प्रताप प्रतिज्ञा' एकांकी लिखे। रामनरेश त्रिपाठी ने 'स्वप्नों का चित्र' और 'दिमाग़ी ऐयाशी,' वदरीनाथ ने 'लवड़ धोंधों', पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चार वेचारे' 'अफ़ज़ल वध' आदि एकांकी लिखे, पर इन सब में 'एकांकी' के लिए स्वीकृत तत्त्वों का प्रायः अभाव है, ये भी आदर्श एकांकी नही हैं।

वस्तुतः आदर्श एकांकियों का सृजन भुवनेश्वरप्रसाद और रामकुमार वर्मा के एकांकी-निर्माण (सन् १९३५-३६) से प्रारम्भ होता है। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवां' और डॉ० रामकुमार वर्मा का 'पृथ्वीराज की आँखें, इस काल की उपज हैं। उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी उन्हीं दिनों एकांकियों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था। भट्ट का 'एक ही कब्र में', 'वर-निर्वाचन,' 'उन्नीस सौ पैंतीस,' माथुर का 'मेरी बांसुरी' और 'भोर का तारा' तथा 'अश्क' का 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' —ये सभी एकांकी सन् १९३५-३८ के बीच रचे गये।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री गोविन्दवल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवतीचरण वर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी आदि ने भी उन्हीं दिनों एकांकी लिखना प्रारम्भ किया था, और तब से एकांकी का भण्डार उत्तरोत्तर भरता चला आ रहा है। भारत के विभाजन के पश्चात् उक्त महानुभावों के अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन शास्त्री, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी', रामवृक्ष वेणीपुरी, धर्मवीर भारती आदि ने इस काव्यांग के विकास में पूर्ण सहयोग दिया। विभाजन से पूर्व के एकांकियों में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया गया, तथा महायुद्ध की विभीषिकाएं, आज़ादी की हुंकार, बंगाल का अकाल, चोरबाज़ारी आदि सामयिक घटनाओं को एकांकियों का वर्ण्य-विषय बनाया गया। देश-विभाजन के पश्चात् नयी समस्याएं आ खड़ी हुईं, जिन्हें पुरानी पीढ़ी तथा नवीन पीढ़ी के नाटकारों ने अपने एकांकियों में चित्रित किया। नवीन पीढ़ी के नाटककारों में चिरंजीत, विष्णु प्रभाकर, सत्येन्द्र शरत्, देवराज 'दिनेश,' विनोद रस्तोगी, सिद्धिनाथ कुमार आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन सबने 'रेडियो' के लिए तथा स्वतंत्र रूप से एकांकियों का सृजन किया और इस काव्यांग की श्रीवृद्धि में सहयोग दिया। इस प्रकार हिन्दी का एकांकी-साहित्य उत्तरोत्तर समृद्ध बनता जा रहा है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

★

: २२ :

मौलिकता और चौरकवि

अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलंकस्यापि चूलिका

अन्य कवियों की रचनाओं का किसी भी प्रकार का अपहरण चौरकर्म कहाता है और इसे कलंक का मूल कहा गया है।[1] निस्सन्देह चौरकवि की निन्दा जितनी की जाए थोड़ी है। दूसरों की रचना को अपनी बताने वाला तो चौर है ही, किन्तु दूसरों का भावापहरण करके उसे अपने शब्दों में प्रस्तुत करने वाला तो पहले प्रकार के चौरकवि की अपेक्षा कहीं अधिक दम्भी है, अतः अधिक अपराधी और निन्दनीय है। ऐसे 'कवियों' की निन्दा अनेक रूपों में की गयी है। इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों में राजशेखर के और कवियों में बाणभट्ट के कथन प्रायः उद्धृत किये जाते हैं। राजशेखर ने चार प्रकार के कवियों का निर्देश किया है—उत्पादक. परिर्वतक, आच्छादक और संवर्गक।[2] इनमें से प्रथम प्रकार का कवि तो निस्सदेह यथार्थ कवि है क्योंकि वह प्रतिभा-सम्पन्न होता है, किन्तु शेष तीनों किसी न किसी रूप में चौर-कर्म करते हैं। परिवर्तक इधर-उधर [भाषा में] परिवर्तन करके, अपना कार्य चला लेता है, आच्छादक दूसरों के भावों तक को आच्छादित कर देता है, संवर्गक तो डाकू होता है वह दूसरों की रचना को वैसे का वैसा ग्रहण करके स्पष्टतः अपनी घोषित करता फिरता है।[3] किसी अज्ञात कवि ने ऐसे 'साहसी'[4] को बार-बार नमस्कार किया है:

कविरनुहरतिच्छायां अर्थं कुकविः पदादिकं चौरः।
सकलप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै॥

---

१. अकवित्वं परस्तावत् कलंकः पाठशालिनाम्।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलंकस्याऽपि चूलिका॥ ना० द० १। ११

२. उत्पादकः कविः कश्चित् कश्चिच्च परिवर्त्तकः।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः॥

३. विशेष विवरण के लिए देखिए—काव्यमीमांसा ११ अ० (अन्तिम भाग), हिन्दी नाटचदर्पण (आ० विश्वेश्वर) पृष्ठ ६

४. संस्कृत में 'साहस' शब्द का अर्थ डकैती आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बाणभट्ट ने चौर-कवि की भर्त्सना करते हुए श्लेष अलंकार के माध्यम से उसे चौर ही सिद्ध किया है—

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः ।[1]
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ।। हर्षचरितम् १।६

इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि यदि यह स्वीकार किया जाता है कि 'मौलिकता' नाम का तत्त्व नितान्त दुर्लभ है तो भावसाम्य के आधार पर किसी की भर्त्सना क्यों की जाए ? भावसाम्य का कारण तो मानव-मन का ऐक्य है। विभिन्न देश और काल में विद्यमान व्यक्तियों ने जो कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरे से अप्रभावित हैं एक ही प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। निस्सन्देह इस प्रकार का भावसाम्य उपस्थित करने वाला व्यक्ति किसी भी रूप में अपराध तथा निन्दा का पात्र नहीं है। कभी कोई बात, कोई घटना, अथवा कोई विचार पढ़ा-सुना जाने पर हमारे हृदय के किसी कोने पर जा पड़ता है और फिर कभी परिस्थितिवश जागृत होकर अनायास वाणी अथवा लेखनी द्वारा निःसृत हो जाता है, और भावसाम्य का कारण बन जाता है। किन्तु इस प्रकार की साम्यता पर मानव का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि न तो वह दूसरों के विचारों को अपने मन में संस्कार रूप में प्रस्तुत होने से रोक सकता है और न समय पड़ने पर अभिव्यक्त होने से। कभी हम दूसरों के विचारों को पढ़ और सुनकर उन्हें नवीन एवं व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित करने के लिए लालायित हो उठते हैं और उन्हें निबन्ध कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि के रूप में ढाल देते हैं। निस्सन्देह यह प्रक्रिया भी निन्दनीय नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व भावों को नवीन दिशा मिलती है। कभी-कभी तो हमारी कल्पना का संयोग पाकर ये भाव पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट, विशद, ग्राह्य एवं प्रभावशाली बन जाते हैं। इस पुनराख्यान-प्रक्रिया को, चाहें तो, 'मौलिकता' का नाम दिया जा सकता है। पूर्वज्ञात भाव हमारी कल्पना का योग पाकर यदि नवीन रूप में प्रतिपादित हो जाएं तो इसे 'मौलिकता'

---

१. यदि चौर दूसरे व्यक्ति के वर्ण अर्थात् रूप-रंग को बदल लेता है तो चौरकवि दूसरों के वर्णों अर्थात् शब्दों एवं वाक्यों को। चौर शृंखला-बन्ध से उत्पन्न चिह्नों को छिपाता फिरता है तो इधर चौरकवि दूसरों के रचना-बन्ध के चिह्नों तक को मिटा देता है। किन्तु ये दोनों समझदार व्यक्तियों के बीच न बताये हुए भी पहिचान लिये जाते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मान लेने में अधिक आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अब केवल शेष एक रूप रह जाता है जो अत्यन्त भर्त्सनीय है, वह है—दूसरों के भावों का बाह्य कलेवर बदल देना, दूसरों के शब्दों के स्थान पर अपने शब्दों और दूसरों की वाक्यावली के स्थान पर अपनी वाक्यावली को रखते चले जाना और इस दम्भ की आड़ में कवि और विचारक कहलाना, यह प्रवृत्ति निःसन्देह पूर्णतः गर्हित एवं त्याज्य है।

त्रिभुवन विश्वविद्यालय
पुस्तकालय

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिशिष्ट

१. हिन्दी-रीतिकालीन अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ

[इस पुस्तक के 'काव्यशास्त्रीय परम्परा' नामक खण्ड के अन्तर्गत रीतिकालीन उपलब्ध ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गयी है (देखिए पृष्ठ ४८-५३), उसमें निम्नोक्त हस्तलिखित ग्रन्थ भी सम्मिलित करने योग्य हैं। प्रस्तुत सूची डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा प्राध्यापक देशबन्धु कालेज दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त हुई है। लेखक उनके प्रति अति कृतज्ञ है। ये सभी ग्रन्थ उनके पास सुरक्षित हैं।]

कवि	ग्रन्थ	प्राप्ति-स्थान
(१) अमीरचन्द्रिका	अमीरदास	सैन्ट्रल लायब्रेरी पटियाला
(२) अलंकारचन्द्रोदय	रसिक सुमति	ना० प्रचारिणी सभा काशी
(३) अलंकारदर्पण	रामसिंह	,, ,,
(४) अलंकारमाला	कविदास	सैं० ला० पटियाला
(५) अर्थालंकारमंजरी	दामोदर	बालकृष्णदेव तैलंग, टीकमगढ़
(६) कान्ताभूषण	रतनेस कवि	राज पुस्तकालय दतिया
(७) कविवल्लभवचनिका	कवि वल्लभ	सैं० ला० पटियाला
(८) चित्रचमत्कृत कौमुदी	ईश्वर कवि	,,
(९) तुलसीभूषण	रस रूप	ना० प्रचारिणी सभा काशी
(१०) नरेन्द्र भूषण	ईश्वर कवि	सैं० ला० पटियाला
(११) भाषाभूषण	श्रीधर ओझा	ना० प्रचारणी सभा काशी
(१२) फतेप्रकाश (फतेभूषण)	रत्नेस कवि	राज पुस्तकालय दतिया
(१३) रसिकगोविंदानंदघन	रसिक गोविंद	सैं० ला० पटियाला
(१४) वाणीभूषण	उमेदराय	× × ×
(१५) श्रीकृष्णसाहित्यसिन्धु	अमीरदास	सैं० ला० पटियाला
(१६) साहित्यशिरोमणि	निहाल	,,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. प्रमुख-सहायकग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अप्पय्यदीक्षित	कुवलयानन्द	नि० सा० प्रे०
अभिनवगुप्त	अभिनवभारती	आ० विश्वेश्वर
आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक	,,
उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	बं० सं० प्रा० सी०
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित	आ० विश्वेश्वर
जगन्नाथ	रसगंगाधर	नि० सा० प्रे०
जयदेव	चन्द्रालोक	चौ० सं० सी०
दण्डी	काव्यादर्श	बी०ओ०आर०आई०, पूना
धनञ्जय	दशरूपक	नि० सा० प्रे०
भरत	नाट्यशास्त्र	चौ० सं० सी०
भामह	काव्यालंकार	,,
भोजराज	सरस्वतीकण्ठाभरण	नि० सा० प्रे०
,,	शृंगारप्रकाश	डॉ० वी. राघवन
मम्मट	काव्यप्रकाश	झलकीकर
राजशेखर	काव्यमीमांसा	पं० केदारनाथ सारस्वत
रामचन्द्र-गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	आ० विश्वेश्वर
रुद्रट	काव्यालंकार	नि० सा० प्रे०
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	आ० विश्वेश्वर
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	पं० शालग्राम

हिन्दी-ग्रन्थ

आनन्दप्रकाश दीक्षित	....	रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण
नगेन्द्र	....	रीतिकाल की भूमिका
,,	....	भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका
बलदेव उपाध्याय	....	भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड)
रामचन्द्र शुक्ल	....	चिन्तामणि (१ भाग), रसमीमांसा
रामदहिन मिश्र		काव्यदर्पण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकाशित

•

• काव्यशास्त्रीय निबन्ध
[परम्परा तथा सिद्धान्त-पक्ष]
मूल्य : ७ रु०

• काव्यशास्त्रीय निबन्ध
[सिद्धान्त-पक्ष]
मूल्य : ५ रु०

• वैदिक साहित्य में नारी
[गवेषणात्मक लघु प्रबन्ध]
मूल्य : ४ रु०

आगामी प्रकाशन
(यन्त्रस्थ)

• रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार
[हिन्दी-व्याख्या-सहित]

• Essays on Indian Poetics :
Vol. I & II

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वासुदेव प्रकाशन
दिल्ली